सनत्सुजातीय शाङ्करभाष्य

सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित

गीताप्रेस, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)

by a German Devotee of Sri Sri Ma

ॐ

सनत्सुजातीय शाङ्करभाष्य

सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित
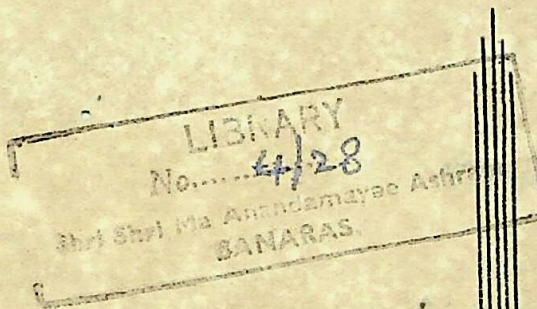
अनुवादक—

स्वामी श्रीसनातनदेव

मुद्रक तथा प्रकाशक—
मोतीलाल जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य २.०० (दो रुपये)

मूल्य दो रुपया पचास पै०

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ

प्राक्कथन

महाभारतके उद्योगपर्वमें अध्याय ४१ से ४६ तक 'सनत्सुजातपर्व' नामका एक प्रकरण है। इससे पूर्व अध्याय ३३ से ४० तक प्रजागरपर्व है। वही 'विदुरनीति' नामसे भी प्रसिद्ध है। विदुरजीसे नीतिका उपदेश सुनकर राजा धृतराष्ट्रने पूछा, 'विदुर ! यदि तुम्हें कुछ और कहना शेष हो तो वह भी कहो। मुझे सुननेकी बड़ी अभिलाषा है, क्योंकि तुम बड़ी अद्भुत बातें कह रहे हो।' इसपर विदुरजीने कहा, 'राजन् ! एक बार सनातन ऋषि श्रीसनत्सुजातजीने कहा था कि मृत्यु है ही नहीं। वे सभी बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं और वे ही आपके गुह्य एवं प्रकट सब प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देंगे।' तब धृतराष्ट्र बोले, 'विदुर ! क्या तुम उस तत्त्वको नहीं जानते ? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं उसका उपदेश करो।' विदुरजीने कहा, 'राजन् ! मेरा जन्म शूद्राके गर्भसे हुआ है; अतः इससे अधिक उपदेश करनेका मैं साहस नहीं कर सकता। हाँ, जो श्रीसनत्सुजातजीका सनातन सिद्धान्त है उसे मैं जानता अवश्य हूँ। जो पुरुष ब्राह्मणयोनिमें उत्पन्न हुआ हो वह यदि इस गुह्य तत्त्वका वर्णन करेगा तो देवताओंकी निन्दाका पात्र नहीं होगा।'

ऐसा कहकर श्रीविदुरजीने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति तो शूद्रको भी हो सकती है; परंतु उसके उपदेशका अधिकार मुख्यतया ब्राह्मणको ही है। स्मरण रहे कि यहाँ लोकपितामह श्रीब्रह्माजीके आदिसर्गमें समुद्भूत श्रीसनत्कुमारजीको ही सनत्सुजात कहा है। इसके पश्चात् विदुरजीने श्रीसनत्सुजातजीका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही वे प्रकट हो गये और विदुरजीकी प्रार्थनासे उन्होंने धृतराष्ट्रजीको उस परम गुह्य विद्याका उपदेश किया जिसे पाकर मनुष्य सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हो अमरपद प्राप्त कर लेता है और फिर शीत-उष्ण एवं हानि-लाभ आदि किसी प्रकारके द्वन्द्व उसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते।

यह सब प्रसंग सनत्सुजातपर्वके अध्याय ४१ में आया है। उसके पश्चात् ४२ से ४६ तक पाँच अध्यायोंमें यह परम गुह्य एवं अलौकिक उपदेश है। इसमें साध्य, साधन एवं साध्य-साधनभावसे अतीत नित्यसिद्ध परमात्मतत्त्वका बड़ा अनूठा वर्णन है। इस प्रसंगपर भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने जो भाष्य किया है वही हिंदी-अनुवादसहित यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। महाभारतमें यह संवाद पाँच अध्यायोंमें है, परंतु भाष्य उनमेंसे केवल चार अध्यायोंपर ही प्राप्त होता है। पैंतालीसवाँ अध्याय इस ग्रन्थमें सम्मिलित नहीं किया गया है। उद्योगपर्वके ४२, ४३, ४४ और ४६ वें अध्याय ही इस ग्रन्थके चार अध्याय हैं। इस समय जो महाभारत गीताप्रेससे प्रकाशित हुआ है उससे इस ग्रन्थके श्लोकोंकी संख्या और पाठमें भी बहुत अन्तर देखा जाता है। महाभारतके उक्त अध्यायोंकी श्लोक-संख्या क्रमशः ४६, ६३, ३१ और ३१ हैं तथा इस ग्रन्थके चार अध्यायोंमें क्रमशः ४३, ५०, २४ और ३२ श्लोक हैं। हमारे देखनेमें सनत्सुजातीय भाष्यके तीन संस्करण आये हैं। वे वाणीविलासप्रेस श्रीरङ्गम्, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी और अष्टेकर कम्पनी पूना—इन तीन स्थानोंसे प्रकाशित हुए हैं। इनमें पिछले दो स्थानोंसे जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं उनके पाठ सर्वथा समान हैं, परंतु वाणीविलास प्रेसके संस्करणमें उनसे बहुत अन्तर है। हमें वाणीविलास प्रेसका पाठ ही अधिक उपयुक्त जान पड़ा। इसलिये इस संस्करणमें हमने प्रधानतया वही पाठ लिया है। कहीं-कहीं विशेष उपयुक्त होनेपर उक्त दो संस्करणोंका पाठ भी ले लिया है।

इस ग्रन्थका अनुवाद आजसे प्रायः अठारह वर्ष पूर्व हुआ था। उस समय यह अनुवादक 'कल्याण'के सम्पादन विभागका एक सदस्य था और इसे 'मुनिलाल' कहते थे। दैवयोगसे इतने दिनोंतक इसका प्रकाशन नहीं हो सका। अब यह प्रकाशित होकर अध्यात्मतत्त्वके 'जिज्ञासुओं'के लिये सुलभ हो रहा है। हमें विश्वास है कि इसके अनुशीलनसे उन्हें निश्चय ही बड़ा आनन्द प्राप्त होगा।

गीताभवन, ऋषिकेश
वैशाख शु० २ सं० २०१७ वि०

विनीत—
सनातनदेव

श्रीहरिः

शांकरभाष्यसहित श्रीसनत्सुजातीयकी विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

प्रथम अध्याय

विषय — पृष्ठ-संख्या

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

चित्र-सूची

भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीसनत्सुजातीयम्

(शांकरभाष्यसहितम्)

व्यासाय विष्णुरूपाय सुजातायाजजन्मने ।
नमः श्रीदैशिकेन्द्राय शंकराय च सर्वदा ॥

प्रथमोऽध्यायः

उपक्रमणिका

नमः पुंसे पुराणाय पूर्णानन्दाय विष्णवे ।
निरस्तनिखिलध्वान्ततेजसे विश्वहेतवे ॥

सब प्रकारके अन्धकारको निवृत्त करनेवाले तेजःस्वरूप, पुराणपुरुष, पूर्णानन्दमय, जगत्कारण श्रीविष्णुभगवान्‌को नमस्कार है ।

ॐ नम आचार्येभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यः ॥

ॐ ब्रह्मविद्यासम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्योंको नमस्कार है ।

सनत्सुजातीयविवरणं संक्षेपतो ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखावबोधायारभ्यते ।

ब्रह्मके जिज्ञासुओंको सुगमतासे ज्ञान करानेके लिये संक्षेपसे सनत्सुजातीय ग्रन्थकी व्याख्याका आरम्भ किया जाता है ।

स्वतश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषययाविद्यया स्वानुभवगम्यया साभासया स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मभावात् प्रच्युतोऽनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नोऽप्राप्ताशेषपुरुषार्थः प्राप्ताशेषानर्थोऽविद्याकर्मपरिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहृतिं चाकाङ्क्षन्, लौकिकवैदिकसाधनैरनुष्ठितैरपि परमपुरुषार्थं मोक्षाख्यमलभमानो मकरादिभिरिव रागद्वेषादिभिरितस्तत आकृष्यमाणः सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभिन्नासु नानायोनिषु परिवर्त्तमानो मोमुह्यमानः संसरन् कथंचित्पुण्यवशाद्वेदोदितेनेश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलोऽनित्यादिदोषदर्शने-

स्वयं सत्, चित्, आनन्द एवं अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी आत्मा अपने ही आश्रित रहनेवाली तथा अपनेको ही विषय करनेवाली स्वानुभववेद्य एवं चिदाभाससे युक्त अविद्याद्वारा अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मभावसे च्युत होकर देहादि अनात्मपदार्थोंमें आत्मभाव करके सब प्रकारके पुरुषार्थकी प्राप्तिसे वञ्चित तथा अशेष अनर्थपरम्परासे युक्त हो गया है । वह अविद्याजनित कर्मोंसे रचे हुए साधनोंद्वारा इष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिकी इच्छा करता है तथा लौकिक-वैदिक साधनोंका अनुष्ठान करके भी मोक्षसंज्ञक परमपुरुषार्थको न पानेके कारण मकरादिके समान राग-द्वेषादिके द्वारा इधर-उधर खींचा जाता हुआ देवता, मनुष्य एवं तिर्यक् आदि भेदोंसे युक्त अनेकों योनियोंमें चक्कर लगाता हुआ अत्यन्त मोहमें पड़कर जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त हो रहा है । [ऐसी अवस्थामें] किसी प्रकार पुण्यवश ईश्वरके लिये किये हुए वेदोक्त कर्मानुष्ठानसे रागादि मलकी निवृत्ति होनेपर अनित्य-

नोत्पन्नेहामुत्रफलभोगविरागो वेदान्तेभ्यः प्रतीयमानं ब्रह्मात्मभावं बुभुत्सुर्वेदोदितशमदमादिसाधनसम्पन्नो ब्रह्मविदमाचार्यमुपेत्य आचार्यानुसारेण वेदान्तश्रवणादिना 'अहं ब्रह्मास्मि' इति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो ब्रह्मरूपोऽवतिष्ठत इतीयं वेदान्तानां मर्यादा । एतत्सर्वं क्रमेण दर्शयिष्यति भगवान् सनत्सुजातः ।

धृतराष्ट्रः शोकमोहाभितप्तः 'तरति शोकमात्मवित्' इति वेदान्तवादमुपश्रुत्य ब्रह्मविद्यया विना शोकापनयनमशक्यं मन्वानः—

अनुक्तं यदि ते किंचिद्वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ॥

इति विदुरायोक्तवान् ।

स च श्रुतवाक्योऽपि परमकारुणिकः सर्वज्ञः सन् ब्रह्मविद्यां विशिष्टाधिकारिविषयां मन्वानः— 'शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे' इति शूद्रयोनिजत्वादौपनिषदब्रह्मात्मतत्त्वज्ञाने 'नाहमधिकृतः' इत्युक्त्वा कथमेनं धृतराष्ट्रं ब्रह्मविद्यया परमे पदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये स्थापयिष्यामीति मन्वानः, छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धमितिहासं स्मृत्वा नान्योऽस्मादस्मै भूमानं तमसः परं पारं परमात्मानं दर्शयितुं शक्नुयादिति मत्वा तमेव भगवन्तं सनत्सुजातं योगबलेनाहूय प्रत्युत्थानादिभिर्भगवन्तं पूजयित्वा—

त्वादि दोषोंको देखनेसे ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलभोगोंमें उत्पन्न हुए वैराग्यसे युक्त हो वह वेदान्तवाक्योंसे प्रतीत होनेवाले ब्रह्मात्मभावको जाननेका इच्छुक हो वेदविहित शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर ब्रह्मवेत्ता आचार्यके समीप जा आचार्यका अनुवर्तन करते हुए वेदान्तश्रवणादिसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्तकर अज्ञान और उसके कार्यसे मुक्त हो ब्रह्मस्वरूपसे स्थित हो जाता है—यह वेदान्तशास्त्रकी मर्यादा है । भगवान् सनत्सुजात इन्हीं सब (विषयों) को क्रमशः दिखलायेंगे ।

[भावी वंशविध्वंसकी आशङ्काके कारण] शोक और मोहसे संतप्त हुए राजा धृतराष्ट्रने 'आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है' ऐसी वेदान्तकी उक्ति सुनकर ब्रह्मविद्याके बिना शोककी निवृत्ति असम्भव मानते हुए विदुरसे—'हे विदुर ! यदि अभी तुम्हारी वाणीद्वारा बिना कही हुई कोई बात रह गयी है तो उसे सुननेकी इच्छावाले मेरे प्रति कहो; क्योंकि तुम इस समय बड़ा विचित्र भाषण कर रहे हो ।' ऐसा कहा ।

विदुरजी यद्यपि महावाक्य श्रवण कर चुके थे, तथापि उन परमकारुणिकने सर्वज्ञ होते हुए भी ब्रह्मविद्याको विशेष अधिकारीसे सम्बन्ध रखनेवाली मानकर—'मैं शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुआ हूँ, अतः [जो कुछ कह चुका हूँ, उससे अतिरिक्त] और कुछ कहनेका साहस नहीं कर सकता' इस प्रकार शूद्रयोनिमें उत्पन्न होनेके कारण मैं उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानका उपदेश करनेका अधिकारी नहीं हूँ—ऐसा कहकर फिर यह सोचते हुए कि मैं इन महाराज धृतराष्ट्रको किस प्रकार ब्रह्मविद्याके द्वारा पूर्णानन्दमय परमपद परमात्मस्वरूप स्वाराज्यपर स्थापित करूँ—उन्होंने छान्दोग्योपनिषद् [अष्टम अध्याय] के प्रसिद्ध इतिहासका स्मरण किया और यह सोचते हुए कि इन्हें अज्ञानसे अतीत सर्वव्यापक परमात्माका साक्षात्कार करानेमें और कोई समर्थ नहीं है—उन भगवान् सनत्कुमारको ही योगबलसे बुलाकर उनका अभ्युत्थानादिसे सत्कार करते हुए इस प्रकार कहा—

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसे ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ॥
यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ तथैव च जरान्तकौ ॥
विषहेत मदोन्मादौ क्षुत्पिपासे भयाभये ।
अरतिं चैव तन्द्रां च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥

इति । भगवन् ! येनासौ सकलसंसारकारण-धर्माधर्मविवर्जितः सुखदुःखातिगो मुक्तो भवेत् तमस्मै धृतराष्ट्राय वक्तुमर्हसीत्युक्तवान् ।

'भगवन् ! महाराज धृतराष्ट्रके मनमें कुछ संदेह है, जिसका कि मेरे द्वारा समाधान नहीं किया जा सकता; अतः आप इनके प्रति उसका वर्णन कीजिये, जिसे सुनकर ये महाराज सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जायँ तथा लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, मद-उन्माद, क्षुधा-पिपासा, भय-अभय तथा अरुचि, तन्द्रा, काम, क्रोध एवं अवनति और उन्नतिको [समानभावसे] सह सकें। अर्थात् हे भगवन् ! जिसके द्वारा ये सम्पूर्ण संसारके हेतुभूत धर्माधर्मसे रहित हो सुख-दुःखसे ऊपर उठकर मुक्त हो जायँ, उस (ब्रह्मविद्या) का आप इन महाराज धृतराष्ट्रको उपदेश कीजिये ।'

वैशम्पायन उवाच—

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी बोले—तब परम बुद्धिमान् महात्मा राजा धृतराष्ट्रने विदुरजीके कहे हुए इस वाक्यकी प्रशंसा करते हुए एकान्तमें श्रीसनत्सुजातजीसे उस उत्कृष्ट बुद्धिके विषयमें, उसमें स्थित होनेकी इच्छासे, पूछा ॥ १ ॥

तत एतद्वाक्यसमनन्तरं विदुरेण सनत्सुजातं प्रति ईरितम् उक्तं यद् वाक्यं तत् सम्पूज्य—सम्मान्य, सनत्सुजातं सनदिति सनातनं ब्रह्मोच्यते, हिरण्यगर्भाख्यम् । तस्मात्सनातनाद् ब्रह्मणो मानसाद् ज्ञानवैराग्यादिसमन्वितः सुष्ठु जात इति सनत्सुजातः—इत्युक्तो भगवान् सनत्कुमारः, तं रहिते रहसि प्राकृतजनवर्जिते देशे महात्मा महाबुद्धिः पप्रच्छ पृष्टवान् बुद्धिं परमामुत्तमां पूर्णानन्दाद्वितीयविषयाम् । किमर्थम् ? बुभूषन् भवितुमिच्छन्, ब्रह्मात्मविद्ययापहृतमात्मानं लब्धुमिच्छन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

तब—इस वाक्यके पश्चात् विदुरजीने श्रीसनत्सुजात जीके प्रति जो वाक्य कहा था, उसकी प्रशंसा अर्थात् सम्मान करते हुए—'सनत्' हिरण्यगर्भसंज्ञक सनातन ब्रह्मको कहते हैं, उस सनातन ब्रह्मके मनसे जो ज्ञान-वैराग्यादिसे सम्पन्न हुए सुन्दर प्रकारसे उत्पन्न हुए हैं, उन भगवान् सनत्कुमारजीको ही सनत्सुजात कहा गया है—उन सनत्कुमारजीसे एकान्तमें अर्थात् जनसाधारण-से शून्य प्रदेशमें महात्मा—परमबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने परम उत्तम अर्थात् पूर्णानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मसम्बन्धिनी बुद्धिके विषयमें प्रश्न किया । किसलिये किया ?—बुभूषन्—तद्रूप होनेकी इच्छासे अर्थात् [अविद्याके कारण] खोये हुए अपने आत्माको ब्रह्मज्ञानके द्वारा प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया ॥ १ ॥

तदेवाह—

वही [प्रश्न] बतलाया जाता है—

धृतराष्ट्र उवाच—

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि मृत्युर्हि नास्तीति तवोपदेशम् ।
देवासुरा आचरन् ब्रह्मचर्यममृत्यवे तत्कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजात ! मैं जो आपका ऐसा उपदेश सुनता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं; तथा [ऐसा भी सुनता हूँ कि] अमरत्वकी प्राप्तिके लिये देवता और असुरोंने ब्रह्मचर्यका आचरण किया था—सो इनमें कौन-सी बात सत्य है ? ॥ २ ॥

हे सनत्सुजात ! यन्मृत्युर्हि नास्तीति शिष्यान् प्रति उपदिष्टमिति विदुरः प्राह, देवासुराः पुनरमृत्यवे मृत्योरभावाय अमृतत्वप्राप्तये ब्रह्मचर्यमाचरन्तः—इन्द्रविरोचनादयो गुरौ वासं कृतवन्तः। श्रूयते च च्छान्दोग्ये—'तद्धोभये देवा असुरा अनुबुबुधिरे' इत्याद्यारभ्य 'तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः' इत्यन्तेनेन्द्रविरोचनयोः प्रजापतौ ब्रह्मचर्यचरणम् । 'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' इति च ।

हे सनत्सुजात ! आपने जो अपने शिष्योंको उपदेश किया था कि 'मृत्यु है नहीं'—सो मुझसे विदुरने कहा है तथा इन्द्र एवं विरोचनादि देवता और असुरोंने अमृत्यु—मृत्युके अभाव यानी अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यका आचरण किया था—उन्होंने [इसी उद्देश्यसे] गुरुगृहमें निवास किया था; जैसा कि छान्दोग्योपनिषद्में 'उन देवता और असुर दोनोंने जाना' यहाँसे लेकर 'वे बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यसे रहे' यहाँतक प्रजापतिके यहाँ इन्द्र और विरोचनके ब्रह्मचर्याचरणकी बात तथा 'इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ वर्षतक ब्रह्मचर्यवास किया' इस वाक्यसे [अकेले इन्द्रके ब्रह्मचर्याचरणकी बात] कही गयी है ।

यदि मृत्युर्नास्तीति तव पक्षः, तर्हि कथं देवासुराणाममृत्यवे ब्रह्मचर्यचरणम् ? तत् तयोर्मृत्युसद्भावासद्भावपक्षयोः कतरन्नु सत्यम् ? यत्सत्यं तद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

यदि आपका यह पक्ष है कि 'मृत्यु है ही नहीं' तो देवता और असुरोंने अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्याचरण कैसे किया ? अतः मृत्युकी सत्ता और असत्ता—इन दोनों पक्षोंमेंसे कौन पक्ष सत्य है ? तात्पर्य यह है कि इनमें जो सत्य हो, उसीका मुझे उपदेश कीजिये ॥ २ ॥

भगवान् सनत्सुजातका उत्तर—अमरत्वके विभिन्न रूप

श्रीसनत्सुजात उवाच—

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे ।
शृणु मे ब्रुवतो राजन्यथैतन्मा विशङ्किथाः ॥ ३ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—राजन् ! कुछ लोग तो कर्मके द्वारा अमरत्व मानते हैं और दूसरे लोगोंका ऐसा मत है कि मृत्यु है ही नहीं । यह बात किस प्रकार है, सो मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ! इसमें शङ्का मत करो ॥ ३ ॥

श्रीसनत्सुजात और महाराज धृतराष्ट्र
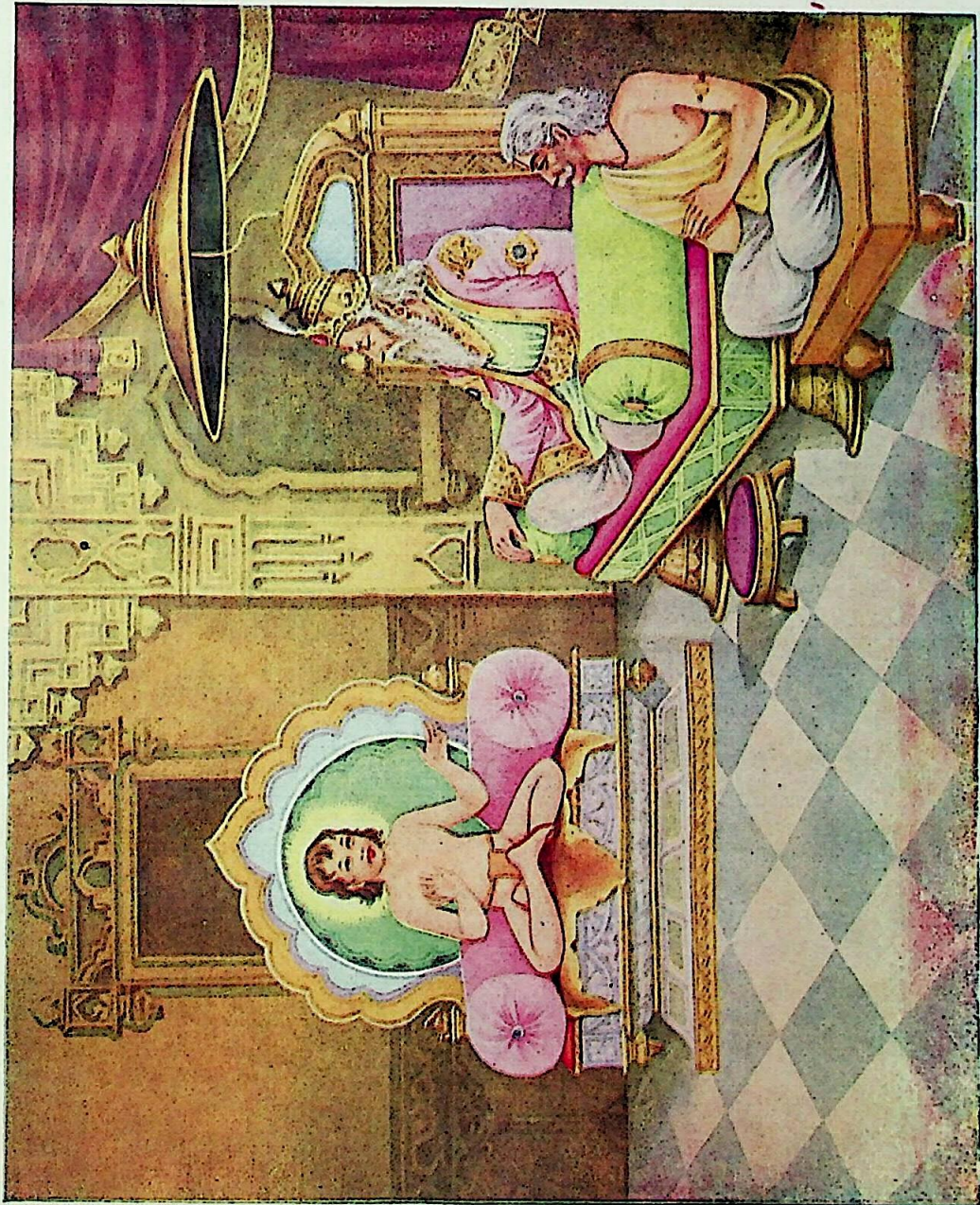
एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—केचित्पुनरविद्याधिरूढाः परमार्थतो मृत्युसद्भावं मन्यमाना वेदोक्तेन कर्मणा अमृत्युः—अमृतत्वं भवतीति मत्वा अमृत्यवे—अमृतत्वप्राप्तये वेदोक्तं कर्माचरन्ति ।

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—कई लोग जो अविद्याके वशीभूत हैं, परमार्थतः मृत्युकी सत्ता मानते हुए यह समझकर कि वेदोक्त कर्मके द्वारा अमृत्यु—अमृतत्व प्राप्त होता है, उस अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मका अनुष्ठान करते हैं ।

तथान्ये विषयविषान्धा विषयव्यतिरेकेण निर्विषयं मोक्षममन्यमानाः कर्मणैवामृत्युः—अमृतत्वं देवादिभावं वर्णयन्ति । तत्रैव च रागिगीतं श्लोकमुदाहरन्ति—

अपि वृन्दावने रम्ये सृगालत्वं स इच्छतु ।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ॥इति॥

तथा दूसरे, जो विषयरूप विषसे अन्धे हो रहे हैं, विषयसे रहित कोई निर्विषय मोक्ष न मानते हुए कर्मके द्वारा ही अमृत्यु—अमरत्व अर्थात् देवादिभावकी प्राप्तिका वर्णन करते हैं । इसी विषयमें वे किसी रागीके कहे हुए श्लोकका उदाहरण देते हैं—'हे गौतम ! वह रमणीय वृन्दावनमें सृगाल होनेकी इच्छा तो कर सकता है; किंतु निर्विषय मोक्षकी इच्छा कभी नहीं कर सकता ।'

तथैव च परमात्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो ज्ञानकर्मभ्याममृतत्वं वर्णयन्ति ।

इसी प्रकार परमात्मासे भिन्न किसी अन्यको न देखनेवाले कुछ लोग ज्ञान और कर्मके [समुच्चय] द्वारा अमृतत्वका प्रतिपादन करते हैं ।

अपरे पुनरद्वितीयात्मदर्शिन आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो मृत्युर्नास्तीति वर्णयन्ति । हे राजन् ! यथैतत्पक्षयोरविरोधः सम्भवति तथा ब्रुवतो मे मम वाक्यं शृणु मा विशङ्किथाः, मयोक्तेऽर्थे शङ्कां मा कृथाः ॥ ३ ॥

किंतु हे राजन् ! दूसरे, जो अद्वितीय आत्माको ही देखनेवाले हैं, वे आत्मासे भिन्न किसी दूसरेको न देखनेके कारण ऐसा कहते हैं कि 'मृत्यु है ही नहीं ।' इन पक्षोंका* जिस प्रकार परस्पर अविरोध हो सकता है, वह मैं बतलाता हूँ, मेरा कथन सुनो; शङ्का मत करो अर्थात् मेरी कही हुई बातमें कोई संदेह न करो ॥ ३ ॥

स्वमत—अप्रमाद ही अमरत्व है

कथम् ?—

किस प्रकार ?—

उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम् ।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि सदाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

* यहाँ आचार्यने सबसे पहले कर्ममार्गानुसारी मीमांसकके, फिर उपासकके, उसके पश्चात् ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी और अन्तमें अद्वितीय ब्रह्मनिष्ठके मतका वर्णन किया है । अपने-अपने क्षेत्रमें ये सभी ठीक हैं; किंतु यहाँ ब्रह्मविद्याका प्रसङ्ग है, इसलिये मीमांसक और उपासकोंके सिद्धान्तोंका कुछ हेयरूपसे उल्लेख किया है ।

हे क्षत्रिय ! जगत्के आरम्भसे ही प्रवृत्त हुए ये दोनों विचार सत्य हैं; तथापि जो विद्वानोंको अभिमत है, वह मृत्यु तो मोह है । [किंतु] मैं तो प्रमादको ही मृत्यु कहता और सर्वदा अप्रमादको ही अमृतत्व बतलाता हूँ ॥ ४ ॥

ये पूर्वोक्ते मृत्योरस्तित्वनास्तित्वे ते उभे हे क्षत्रिय ! आद्यप्रवृत्ते य आदिसर्गस्तमारभ्य प्रवृत्ते । अथवा क्षत्रियाद्य क्षत्रियप्रधान, प्रवृत्ते वर्तमाने । कथं पुनरुभयोः परस्परविरुद्धयोरस्तित्वनास्तित्वयोः सत्यत्वमिति ? तत्राह—मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनामिति । भवेदयं विरोधोऽस्तित्वनास्तित्वयोः, यदि परमार्थरूपो मृत्युः स्यात् ।

हे क्षत्रिय ! पहले बतलाये हुए जो ये मृत्युके अस्तित्व और अभाव हैं, वे दोनों भी आद्यप्रवृत्त अर्थात् जो आदिसर्ग है, उससे आरम्भ करके प्रवृत्त हैं । अथवा क्षत्रियाद्यका अर्थ क्षत्रियप्रधान और 'प्रवृत्ते' का वर्तमान है (ऐसा समझना चाहिये); किंतु परस्पर-विरुद्ध मृत्युके अस्तित्व और अभाव—इन दोनोंकी सत्यता कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—विद्वानोंको जो अभिमत है, वह मृत्यु तो मोह है । यह अस्तित्व और अभावका विरोध तो तभी हो सकता है, जब मृत्यु परमार्थरूप हो ।

कस्तर्हि मृत्युः ? यो मोहो मिथ्याज्ञानम्, अनात्मनि आत्माभिमानः स मृत्युः केषांचित् कवीनां मतः । अहं तु न तथा मृत्युं ब्रवीमि । कथं तर्हि ? प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि । प्रमादः प्रच्युतिः स्वाभाविकब्रह्मभावात् । तं प्रमादं मिथ्याज्ञानस्यापि कारणम् आत्मानवधारणमात्माज्ञानं मृत्युं जननमरणादिसर्वानर्थबीजम् अहं ब्रवीमि ।

तो फिर मृत्यु क्या है ? यह जो मोह—मिथ्याज्ञान अर्थात् अनात्मामें आत्माभिमान है, वही मृत्यु है—ऐसा किन्हीं विद्वानोंका मत है; किंतु मैं मृत्युको ऐसा नहीं बतलाता । तो कैसा बतलाता हूँ । मैं तो प्रमादको ही मृत्यु कहता हूँ । प्रमाद अपने स्वाभाविक ब्रह्मभावसे च्युत होनेको कहते हैं । उस प्रमाद—मिथ्याज्ञानके भी कारणभूत आत्माके अनिश्चय अर्थात् आत्माके अज्ञानको मैं मृत्यु यानी जन्म-मरणादि सम्पूर्ण अनर्थका बीज बतलाता हूँ ।

तथा सदाप्रमादं स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थानम् अमृतत्वं ब्रवीमि । तथा च श्रुतिः स्वरूपावस्थानमेव मोक्षपदं दर्शयति—'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति । तथानुगीतासु स्पष्टमाह—

एको यज्ञो नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
यस्मिन्निष्ट्वा सर्वमिदं प्रसित्वा
स्वरूपसंस्थाश्च भवन्ति मर्त्याः ॥

तथा सर्वदा ही अप्रमाद—अपने स्वाभाविकरूपसे स्थित होनेको मैं अमृतत्व कहता हूँ । इसी प्रकार श्रुति भी 'परम ज्योतिको प्राप्त होकर अपने स्वरूपसे युक्त हो जाता है' ऐसा कहकर स्वरूपमें स्थित होनेको ही मोक्षरूपसे प्रदर्शित करती है । तथा अनुगीतामें भी स्पष्ट ही कहा है—'आत्मा एक है, उससे भिन्न कोई और नहीं है, जो कि हृदयदेशमें स्थित है । उसीका मैं वर्णन करता हूँ । उसका यजन करके मनुष्य इस सम्पूर्ण दृश्यवर्गको लीनकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं ।'

यत एवं स्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षः, अत एव चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वादेव न कर्मसाध्यममृतत्वम्, नापि समुच्चिताभ्यां ज्ञानकर्मभ्यामिति 'अमृत्युः कर्मणा केचित्' इत्येतदनुपपन्नमेवेत्युक्तं भवति । वक्ष्यति चास्य पक्षस्य स्वयमेव निराकरणम्—

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
ज्ञानेन विद्वांस्तेजोऽभ्येति नित्यं
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः' ॥इति॥४॥

क्योंकि इस प्रकार स्वरूपमें स्थित होना ही मोक्ष है, इसीसे [काम्य, नित्य, नैमित्तिक और निषिद्ध] चारों प्रकारके कर्मोंके फलसे विलक्षण होनेके कारण अमृतत्व कर्मसाध्य नहीं है और न परस्पर मिले हुए ही ज्ञान और कर्मोंसे साध्य है। इससे यह बतलाया गया है कि 'कुछ लोग कर्मसे अमृतत्व बतलाते हैं' ऐसा कथन अनुपपन्न ही है । 'कर्मका उदय होनेपर कर्मफलके अनुरागवश लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं, वे मृत्युको पार नहीं कर पाते । विज्ञपुरुष ज्ञानके द्वारा नित्य-प्रकाशको प्राप्त करता है । उसके लिये [इससे भिन्न] और कोई मार्ग नहीं है' ऐसा कहकर सनत्कुमारजी स्वयं ही इस पक्षका निराकरण करेंगे ॥ ४ ॥

अप्रमादके अमृतस्वरूप होनेमें हेतु

कथमेतदवगम्यते प्रमादो मृत्युरप्रमादोऽमृतत्वमिति ? तत्राह—

किंतु यह कैसे जाना जाता है कि प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद अमृतत्व है ? सो बतलाते हैं—

प्रमादाद्वा असुराः पराभवन्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
न वै मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून् नाप्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

(क्योंकि) प्रमादसे ही असुरगण पराभवको प्राप्त हुए थे और अप्रमादके कारण ही देवताओंने ब्रह्मत्व प्राप्त किया था । (इसके सिवा) मृत्यु भी सिंहके समान जीवोंका भक्षण नहीं करती और न इसका कोई रूप ही उपलब्ध होता है ॥ ५ ॥

प्रमादात् स्वाभाविकब्रह्मभावप्रच्यवनाद् अनात्मनि देहादावात्मभावाद् असुरा विरोचनप्रभृतयः पराभवन् पराभूताः । तथा च श्रुतिः—'अनुपलभ्यात्मानम्' इत्यारभ्य 'देवा वा असुरा वा ते पराभविष्यन्ति' इत्यन्तेन । तथाप्रमादात्स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थानाद् ब्रह्मभूताः सुराश्चेन्द्रादयः । तथा च श्रुतिः—'तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां च सर्वे लोका आप्ताः सर्वे च कामाः' इत्यादिना ।

प्रमाद—अपने स्वाभाविक ब्रह्मभावसे च्युत होने अर्थात् देहादि अनात्मामें आत्मभाव करनेसे विरोचन आदि असुरगण पराभवको प्राप्त हुए थे । जैसा कि 'आत्माको उपलब्ध न करके' यहाँसे लेकर 'वे देवता हों या असुर पराभवको प्राप्त होंगे' यहाँतकके वाक्यसे श्रुतिने कहा है । तथा अप्रमाद यानी अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे स्थित होनेसे ही इन्द्रादि देवगण ब्रह्मत्वको प्राप्त हुए थे । ऐसा ही 'उस इस आत्माकी देवगण उपासना करते हैं, इसीसे उन्हें सम्पूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त हैं' इत्यादि मन्त्रद्वारा श्रुति कहती है ।

अथवा, असुषु प्राणेषु इन्द्रियेष्वेव रमन्त इत्यसुराः, अनात्मविदो वैषयिकाः प्राणिनोऽसुराः। ते स्वाभाविकब्रह्मभावमतिक्रम्यानात्मनि देहादावात्मभावमापन्नाः पराभवन्, तिर्यगादियोनिमापन्नाः। तथा च बह्वृचब्राह्मणोपनिषत्—'तस्मान्न प्रमाद्येत्तन्नातीयान्न ह्यत्यायन्पूर्वे येऽत्यायंस्ते पराबभूवुः' इत्यारभ्य 'या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रोऽत्यायमायंस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः' इति।

अथवा जो असु—प्राण यानी इन्द्रियोंमें ही रमण करते हैं, वे अनात्मज्ञ विषयी प्राणी असुर हैं। वे स्वाभाविक ब्रह्मभावका उल्लङ्घन कर देहादि अनात्मामें आत्मभाव करनेके कारण पराभूत हुए हैं अर्थात् तिर्यगादि योनियोंको प्राप्त हुए हैं। ऐसा ही 'उस (धर्मपथ) से प्रमाद न करे, उसका अतिक्रमण न करे, उसका अतिक्रमण नहीं किया जाता, पहले जिन्होंने उसका अतिक्रमण किया था, वे पराभवको प्राप्त हुए' यहाँसे लेकर 'जिन इन तीन प्रसिद्ध प्रजाओंने धर्मका त्याग किया था, वे पक्षी, वङ्ग (वनके वृक्ष), वगध (ओषधियाँ) और इरपद (सर्पादि) हैं' यहाँतक ऋग्वेदीय ब्राह्मणोपनिषद् (ऐतरेयारण्यक) भी कहता है।

तथा स्वस्मिन्नात्मन्येव रमन्ति इत्यात्मविदः सुराः। तथा चोक्तम्—

आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले।
ते सुरा इति विख्याताः सूरयश्च सुरा मताः॥

इति। अप्रमादात्ते स्वाभाविकब्रह्मात्मनावस्थानाद् ब्रह्मभूताः। निवृत्तमिथ्याज्ञानतत्कार्या ब्रह्मैव संवृत्ता इत्यर्थः।

तथा जो अपनेमें अर्थात् आत्मामें ही रमण करते हैं, वे आत्मवेत्ता ही सुर हैं। जैसा कि कहा भी है—'जिनका अपने ब्रह्मस्वरूप अविचल आत्मामें ही राग है, वे ही 'सुर' ऐसा कहकर विख्यात हुए हैं; क्योंकि सूरि (विद्वान्) ही 'सुर' माने गये हैं।' वे अप्रमाद यानी स्वाभाविक ब्रह्मभावसे स्थित होनेके कारण ब्रह्मभूत अर्थात् जिनसे मिथ्या अज्ञान और उसका कार्य निवृत्त हो गये हैं, ऐसे होकर ब्रह्म ही हो गये हैं।

नन्वन्य एव सर्वजन्तूनामुपसंहारको मृत्युः प्रसिद्धः, कथमुच्यते 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इति? तत्राह—न वै मृत्युरिति। न वै मृत्युर्व्याघ्र इव अत्ति भक्षयति प्राणिनः। यदि भक्षयेत् तर्हि व्याघ्र इवास्य रूपमुपलभ्येत, न चोपलभ्यते तस्मान्नास्त्येव मृत्युः॥५॥

(लोकमें) सम्पूर्ण जीवोंका संहार करनेवाला मृत्यु तो दूसरा ही प्रसिद्ध है; फिर यह कैसे कहा जाता है कि 'मैं प्रमादको ही मृत्यु कहता हूँ?' ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'न वै मृत्युः' इत्यादि। मृत्यु व्याघ्रके समान प्राणियोंको भक्षण नहीं करती। यदि यह भक्षण करती तो व्याघ्रके समान इसका कोई रूप भी देखा जाता; किंतु वह देखा नहीं जाता, अतः मृत्यु है ही नहीं॥५॥

मतान्तरमें यम ही मृत्यु है, परंतु वास्तविक मृत्यु प्रमाद ही है

ननूपलभ्यते सावित्र्युपाख्याने—

अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥इति।

यदि कहो कि सावित्र्युपाख्यानमें तो 'इसके अनन्तर यमने सत्यवान्के शरीरसे अपने वशीभूत एवं पाशमें बँधे हुए अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको बलात्कारसे खींचा' इस वाक्यद्वारा (मृत्युका रूप) देखा जाता है, फिर यह

कथमुच्यते नास्य रूपमुपलभ्यत इति ? तत्राह—

कैसे कहा जाता है कि इसका रूप दिखायी नहीं देता ? तो इसपर कहते हैं—

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मावासममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥ ६ ॥

इससे भिन्न कुछ लोग अपनी बुद्धिमें स्थित, अमर तथा ब्रह्मनिष्ठ यमको मृत्यु कहते हैं, जो पितृलोकमें राज्यशासन करता है तथा जो पुण्यात्माओंको सुख देनेवाला और पापियोंको पीड़ित करनेवाला देव है ॥ ६ ॥

सत्यमुपलभ्यते, तथापि न साक्षान्मृत्युः । कस्तर्हि ? यः प्रमादाख्यो मृत्युरज्ञानं स एव, साक्षाद्विनाशहेतुत्वात् । तथाज्ञानस्य विनाशहेतुत्वं श्रूयते—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' इति । बृहदारण्यके प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य साक्षान्मृत्युत्वं दर्शितम्—'मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्' इति । यस्मात्प्रमाद एव साक्षात् सर्वानर्थबीजं तस्मान्न प्रमाद्येत, चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावेनैवावतिष्ठेतेत्यर्थः । तथा चाज्ञानस्य बन्धहेतुत्वं विज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तं भगवता—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इति ।

ठीक है, देखा तो जाता है; तथापि यह साक्षात् मृत्यु नहीं है । तो फिर साक्षात् मृत्यु क्या है ? जो प्रमादसंज्ञक मृत्यु अज्ञान है, वही विनाशका साक्षात् कारण होनेसे वास्तविक मृत्यु है । तथा 'यदि यहाँ (जीवित रहते हुए) आत्माको जान लिया तो ठीक है, यदि यहाँ नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है' इस श्रुतिमें अज्ञानका विनाशकारणत्व प्रसिद्ध भी है । (इसके सिवा) 'अज्ञान ही मृत्यु है और प्रकाश ही अमृत है' इस वाक्यद्वारा बृहदारण्यकमें भी प्रमादसंज्ञक अज्ञानको साक्षात् मृत्युरूप दिखलाया है । (इस प्रकार) क्योंकि प्रमाद ही सम्पूर्ण अनर्थोंका साक्षात् बीज है, इसलिये प्रमाद न करे अर्थात् सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मभावसे ही स्थित रहे । इसी प्रकार भगवान्ने भी 'ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीसे जीव मोहको प्राप्त होते हैं' इस वाक्यसे अज्ञानके बन्धहेतुत्व और विज्ञानके मोक्षहेतुत्वका प्रतिपादन किया है ।

यस्मात्प्रमाद एव मृत्युः, अप्रमादोऽमृतत्वम्, अत एव न कर्मसाध्यममृतत्वम् । नापि कर्मप्राप्यम्, नित्यसिद्धत्वात्, नित्यप्राप्तत्वाच्च । तथा च श्रुतिः—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति । तथा—'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति

क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृतत्व है, इसलिये वह (अमृतत्व) न तो नित्यसिद्ध होनेके कारण कर्मसाध्य है और न नित्य-प्राप्त होनेके कारण कर्मसे प्राप्त होनेवाला है । ऐसी ही 'यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य-महिमा है कि वह न तो कर्मसे बढ़ता है और न घटता ही है' यह श्रुति भी है । तथा 'उसीको जानकर पुरुष मृत्युको पार करता है, मोक्षप्राप्तिके लिये कोई और मार्ग नहीं है', 'ब्रह्मवेत्ता बुद्धिमान् पुरुष उस पदको जानकर उसीमें बुद्धि स्थिर करे'—इन

ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं दर्शितम् । तथा च 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति ।

वक्ष्यति च भगवान् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वम्—'अन्तवन्तः क्षत्रिय ते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन' (३ । १८) इति, 'एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इति च । तथा च मोक्षधर्मे—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥इति॥
ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञा
ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥ इति च ॥

तथा च ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं मन्यमानः सर्वकर्मपरित्यागमाह भगवान् वेदाचार्यो मनुः—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥

इति तथाऽऽह भगवान् परमेश्वरः—

ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गफलप्रदम् ।
तस्माद् भवद्भिर्विमलं ज्ञानं कैवल्यसाधनम् ॥
विज्ञातव्यं प्रयत्नेन श्रोतव्यं दृश्यमेव च ।
एकः सर्वत्रगो ह्यात्मा केवलश्चितिमात्रकः ॥
आनन्दो निर्मलो नित्यः स्यादेतत्सांख्यदर्शनम् ।
एतदेव परं ज्ञानमेतन्मोक्षोऽनुगीयते ॥
एतत्कैवल्यममलं ब्रह्मभावश्च वर्णितः ।
आश्रित्यैतत्परं तत्त्वं तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छन्ति मां महात्मानो यतयो विश्वमीश्वरम् ॥
॥ इति ॥

वाक्योंद्वारा भी ज्ञानका ही मोक्ष-साधनत्व दिखलाया गया है। तथा 'इस आत्मतत्त्वका न तो कोई नेत्रसे ग्रहण कर सकता है, न वाणीसे, न अन्य इन्द्रियोंसे और न तप या कर्मसे ही ग्रहण कर सकता है । जब ज्ञानके प्रसादसे पुरुष शुद्ध-चित्त हो जाता है, तभी ध्यान करनेपर वह उस निष्कल तेजका साक्षात्कार करता है' इस वाक्यसे भी (यही दिखलाया गया है) ।

'हे क्षत्रिय ! वे लोग कर्मद्वारा रचे हुए अन्तवान् लोकोंको प्राप्त होते हैं' तथा 'इस प्रकार मृत्युको उत्पन्न होनेवाला जानकर ज्ञानयुक्त होकर स्थित हुआ पुरुष मृत्युसे भय नहीं मानता'—इन वाक्योंद्वारा भगवान् सनत्सुजात भी ज्ञानका ही मोक्षसाधनत्व प्रदर्शित करेंगे। इसी प्रकार मोक्षधर्ममें भी कहा है—'जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है। इसीसे पारदर्शी मुनिगण कर्म नहीं करते ।' तथा यह भी कहा है—'जैसा ज्ञान विशिष्ट है वैसे यज्ञ नहीं हैं; क्योंकि पुरुष ज्ञानसे दुर्गम संसारको पार कर सकता है, यज्ञोंसे नहीं ।'

इसी प्रकार वेदाचार्य भगवान् मनुने भी ज्ञानका ही मोक्षसाधनत्व मानते हुए सर्वकर्मपरित्यागका प्रतिपादन किया है—'[मोक्षकामी] द्विजश्रेष्ठको उचित है कि पहले बतलाये हुए भी कर्मोंका परित्याग कर आत्मज्ञान, शम (मनोनिग्रह) और वेदाभ्यासमें तत्पर हो जाय ।' तथा भगवान् परमेश्वरने भी कहा है—'केवल एक ज्ञान ही सम्यक् प्रकारसे मोक्षरूप फल देनेवाला है; अतः आपको प्रयत्नपूर्वक कैवल्यका साधनभूत शुद्ध ज्ञान ही जानना, सुनना और अनुभव करना चाहिये । आत्मा ही एकमात्र सर्वव्यापक, शुद्ध चिन्मात्र, आनन्दस्वरूप, निर्मल एवं नित्य है—यह सांख्य-सिद्धान्त है । यही उत्कृष्ट ज्ञान है और यही मोक्ष कहा जाता है। यही शुद्ध कैवल्य और ब्रह्मभाव भी बतलाया गया है। इस परम तत्त्वका आश्रय लेकर उसीमें निष्ठा और तत्परता रखनेवाले महात्मा यतिजन मुझ विश्वरूप परमेश्वरको ही प्राप्त हो जाते हैं ।'

नन्वेवं चेत्तर्हि कर्माणि नानुष्ठेयानि ?

न नानुष्ठेयानि, किंतु ज्ञानिना नानुष्ठेयानि । तथा चाह भगवान् वासुदेवः—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। इति ।

तथा च ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयाः—

किमद्य नश्चाध्ययनेन कार्यं
क्रिमर्थवन्तश्च मखैर्यजामः ।
प्राणं हि वाप्यनले जोहवीमः
प्राणानले जुह्वीमीति वाचम् ।।इति ।

तथा च बह्वृच्ब्राह्मणोपनिषद्—'किमर्थं वयमध्येष्यामहे ।' तथा च बृहदारण्यके विदुषः कर्मसंन्यासं दर्शयति—'एतद्ध स्म वैतत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।' इति । तथा लैङ्गे—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ।।इति।

तथा च आथर्वणी श्रुतिः—'नैतद्विद्वानृषिणा विधेये न रुन्ध्यते विधिना शब्दकारः ।।' इति ।

केन तर्ह्यनुष्ठेयानि ?

अज्ञानिना आरुरुक्षुणा सर्वकर्माणि सर्वदा अनुष्ठेयानि, न ज्ञानिना । तथा चाह भगवान्—

शङ्का—यदि ऐसी बात है तब तो कर्मोंका अनुष्ठान ही नहीं करना चाहिये ।

समाधान—अनुष्ठान करना ही नहीं चाहिये—ऐसी बात नहीं है; किंतु ज्ञानीको उनका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णने भी 'जिसका आत्मामें ही राग है तथा जो आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट है, उस पुरुषके लिये कोई और कार्य नहीं रहता' इस वाक्यद्वारा ऐसा ही कहा है । तथा ब्रह्माण्डपुराणमें कावषेयगण कहते हैं—'अब हमें अध्ययनसे क्या काम है ? हम किस प्रयोजनको लेकर यज्ञ करें तथा किसलिये प्राणका अग्निमें और प्राणाग्निमें वाणीका हवन करें ।' इसी प्रकार ऋग्वेदीय ब्राह्मणोपनिषद्में कहा है—'हम किसलिये अध्ययन करेंगे' इत्यादि । तथा बृहदारण्यकोपनिषद्में भी 'इसे जाननेवाले पहले विद्वान् लोग 'जिन हमारे लिये यह आत्मलोक ही इष्ट है, वे हम संतानको लेकर क्या करेंगे' ऐसा सोचकर प्रजाकी कामना नहीं करते थे । अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणाको छोड़कर भिक्षाटन करते थे ।' इस वाक्यद्वारा श्रुति विद्वान्के लिये कर्मत्याग ही दिखलाती है । तथा लिङ्गपुराणमें भी कहा है—'जो ज्ञानरूप अमृतसे तृप्त है, उस कृतकृत्य योगीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है; यदि उसे कोई कर्तव्य है तो वस्तुतः वह तत्त्ववेत्ता ही नहीं है ।' ऐसी ही एक अथर्ववेदकी श्रुति भी है—'यह विद्वान् वेदमन्त्रद्वारा विहित कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता, यह विधिसे बँधा हुआ नहीं है; क्योंकि यह तो मन्त्रोंका उत्पत्तिकर्ता है ।'

शङ्का—तो फिर कर्म किसके लिये कर्तव्य हैं ?

समाधान—जो अज्ञानी या मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होनेका इच्छुक है, उसे ही सर्वदा समस्त कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये, ज्ञानीको नहीं । (ज्ञानीमें कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण उसके द्वारा होनेवाले कर्म कर्म ही नहीं

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ इति ।
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ इति च ॥

तथा चाह भगवान् सत्यवतीसुतः—
द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च व्यवस्थितः ॥ इति ॥

नन्वेवमारुरुक्षुणापि कर्माणि नानुष्ठेयानि, कर्मणां बन्धहेतुत्वात् । तथा चोक्तं भगवता—

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।' इति ।

सत्यम्, तथापि ईश्वरार्थतया फलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानानि न बन्धहेतूनि । तथा चोक्तं भगवता—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ इति ।

किमर्थं तर्हि तेषामनुष्ठानम् ?

सत्त्वशुद्ध्यर्थमिति ब्रूमः । तथा चोक्तं भगवता—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
॥ इति ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ इति ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ इति च ॥

होते ।) भगवान्‌ने भी 'हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें पूर्वकालमें मैंने दो निष्ठाएँ कही थीं । सांख्यनिष्ठोंको ज्ञानयोगके द्वारा और योगियोंको कर्मयोगके द्वारा [परमपदकी प्राप्ति होती है]' तथा जो भगवन्मार्गमें प्रवृत्त होनेका इच्छुक है, 'उसके लिये कर्मयोग साधन है और जो योगारूढ है, उसके लिये शमरूप साधन कहा गया है'—इन वाक्योंद्वारा ऐसा ही कहा है । तथा सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासने भी कहा है—'जिनमें कि वेदोंका मुख्य तात्पर्य है, ऐसे ये दो ही मार्ग हैं—(१) प्रवृत्तिरूप धर्म और (२) निवृत्तिमें स्थित होना ।'

शङ्का—तब तो जो मोक्षमार्गमें आरूढ होना चाहते हैं, उन्हें भी कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये; क्योंकि कर्म तो बन्धनके हेतु हैं । ऐसा ही भगवान्‌ने कहा भी है—'जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है ।'

समाधान—ठीक है, किंतु कर्मफलकी अपेक्षा न रखकर भगवान्‌के लिये किये जानेवाले कर्म बन्धनके हेतु नहीं होते । ऐसा ही श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—'यज्ञ (विष्णुभगवान्) के लिये किये हुए कर्मोंसे भिन्न कर्मोंमें लगा हुआ पुरुष ही कर्मोंसे बँधता है; अतः हे कुन्तीनन्दन ! तू निःसङ्ग होकर कर्मानुष्ठान कर ।'

शङ्का—तो फिर उनका अनुष्ठान किसलिये किया जाय ?

समाधान—इसपर हम यह कहते हैं कि चित्तशुद्धिके लिये उनका अनुष्ठान करे । भगवान्‌ने भी कहा है—'योगीलोग आसक्ति छोड़कर चित्तशुद्धिके लिये शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म किया करते हैं', 'बुद्धिमान् लोगोंके यज्ञ, दान और तप उन्हें पवित्र करनेवाले होते हैं', 'जो सब प्रकारकी आसक्तिसे रहित और मुक्त है, जिसका चित्त अपने ज्ञानस्वरूपमें स्थित है और जो केवल यज्ञके लिये ही कर्मानुष्ठान करता है, उसके सब कर्म लीन हो जाते हैं ।' तथा

तथा च--

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।

कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ।।इति।।

ननु कर्मणामपि मोक्षहेतुत्वं श्रूयते—

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह' इति ।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इति च।।

तथा च मनुः—

'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे' इति ।

नैतत्, पूर्वापराननुसंधाननिबन्धनोऽयं भ्रमः । तथा हि—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँसह' इत्युक्त्वा 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति विद्याविद्ययोर्भिन्नविषयत्वेन समुच्चयाभावः श्रुत्यैव दर्शितः । इममेवार्थं स्पष्टयन् भगवान्मनुः—'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे' इत्युक्ते समुच्चयाशङ्का मा भूदिति 'तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते' इति तपसो नित्यनैमित्तिकलक्षणस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धावेव विनियोगं दर्शितवान् ।

तथा 'ईशावास्यमिदँसर्वम्' इति सर्वस्य तावन्मात्रत्वमुक्त्वा तदात्मभूतस्य सर्वस्य तावन्मात्रत्वं पश्यतस्तद्दर्शनेनैव कृतार्थस्य साध्यान्तरमपश्यतः 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इति त्यागेनैवात्मपरिपालनमुक्त्वा, अतदात्मवेदिनः केन तर्हि आत्मपरिपालनम्? इत्याशङ्क्याह—'कुर्वन्ने-

यह भी कहा है—'कर्म वासनाओंको जीर्ण करनेके लिये हैं, किंतु ज्ञान तो परमगति है । कर्मोंके द्वारा वासनाओंके जीर्ण हो जानेपर फिर ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है ।'

शङ्का—किंतु मोक्षका कारण होना तो कर्मोंका भी सुना जाता है; यथा—'जो विद्या (उपासना) और अविद्या (कर्म)—उन दोनोंको एक साथ जानता है' तथा 'कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे' इत्यादि । ऐसा ही मनुजी भी कहते हैं—'तप और ज्ञान—ये दोनों ही ब्राह्मणके लिये कल्याणकारी हैं ।'

समाधान—ऐसी बात नहीं है; आगे-पीछेका प्रसङ्ग न देखनेके कारण ही यह भ्रम होता है । इसीसे—'जो विद्या और अविद्या दोनोंको एक साथ जानता है' ऐसा कहकर 'अविद्यासे मृत्युको पार करके विद्याद्वारा अमृतत्व प्राप्त करता है' इस वाक्यद्वारा श्रुतिने स्वयं ही भिन्न-फलविषयक होनेके कारण विद्या और अविद्याके समुच्चयका अभाव दिखलाया है । इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए भगवान् मनुने भी, यह सोचकर कि—'ब्राह्मणके लिये तप और ज्ञान दोनों ही कल्याणकारी हैं' इस वाक्यद्वारा कर्म और ज्ञानके समुच्चयकी आशङ्का न हो जाय, '[साधक] तपसे पापकी निवृत्ति करता है और ज्ञानसे अमरत्व प्राप्त करता है' ऐसा कहकर तप अर्थात् नित्य-नैमित्तिकरूप कर्मका उपयोग अन्तःकरणकी शुद्धिमें ही दिखलाया है ।

इसी प्रकार 'यह सब ईश्वरसे आच्छादित किये जाने योग्य है' इस वाक्यद्वारा सम्पूर्ण जगत्की भगवद्रूपता बतलाकर भगवत्स्वरूपभूत सम्पूर्ण जगत्की भगवद्रूपता देखनेवाले पुरुषको, जो इस प्रकारकी दृष्टिसे ही कृतार्थ हो गया है और अपना कोई अन्य प्रयोजन नहीं देखता, 'उसका त्यागपूर्वक भोग करे' इस प्रकार त्यागपूर्वक जीवन-यात्रा निर्वाह करनेका विधान कर, अब ऐसी आशङ्का करके कि जिसे प्रपञ्चके भगवत्स्वरूपत्वका ज्ञान नहीं है, उसे किस प्रकार जीवन-निर्वाह करना चाहिये; श्रुति कहती है कि 'इस लोकमें कर्म करता हुआ ही सौ वर्षों-

वेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' इति। एवं सर्वभूते त्वयि नरमात्राभिमानिन्यज्ञेऽविद्यानिमित्तोत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशाभावात्, कुर्वन्नेव सदा यावज्जीवं कर्म जिजीविषेदित्यज्ञस्य नरमात्राभिमानिनः शुद्ध्यर्थं यावज्जीवं कर्माणि दर्शयति। अत एभिरपि वाक्यैः कर्मणां शुद्धिसाधनत्वमेवावगम्यते, न मोक्षसाधनत्वम्।

तक जीवित रहनेकी इच्छा करे। इस प्रकार तुझ मनुष्यके लिये इससे भिन्न कोई और मार्ग नहीं है। ऐसा करनेसे मनुष्यमें कर्मका लेप नहीं होता।' तात्पर्य यह है कि अपने मनुष्यमात्रत्वका अभिमान रखनेवाले तुझ अज्ञानीमें अविद्याजनित संचित कर्मका विनाश और आगामी कर्मका अस्पर्श तो है नहीं, अतः जबतक तेरा जीवन रहे तुझे सर्वदा कर्म करते हुए ही जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार अपने मनुष्यमात्रत्वके अभिमानी अज्ञानी पुरुषकी शुद्धिके लिये ही श्रुति यावज्जीवन कर्म करना दिखलाती है। अतः इन वाक्योंसे भी कर्मका शुद्धिसाधनत्व ही जाना जाता है, मोक्षसाधनत्व नहीं।

यदप्युक्तम्—'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' इति चशब्दात्समुच्चयोऽवगम्यते—तदपि प्रसिद्धश्रुतिविनियोगानुसारेण वेदितव्यम्। तथा चानुगीतासु स्पष्टमाह भगवान् कर्मणां शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

नित्यनैमित्तिकैः शुद्धैः फलसङ्गविवर्जितैः।
सत्त्वशुद्धिमवाप्याथ योगारूढो भविष्यति॥
योगारूढस्ततो याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
गुरुभक्त्या च धृत्या च धर्मभक्त्या श्रुतेन च।
विष्णुभक्त्या च सततं ज्ञानमुत्पद्यतेऽमलम्॥
तस्माद् धर्मपरो भूत्वा वेदास्तिक्यसमन्वितः।
कुर्वन् वै नित्यकर्माणि यथाशक्ति स बुद्धिमान्॥
फलानि पर आसाद्य वासुदेवे परात्मनि।
शुद्धसत्त्वो भवत्येव योगारूढश्च जायते॥

और ऐसा जो कहा है कि 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' इस श्रुतिमें 'च' शब्दसे [पुण्यकृत् और ब्रह्मवित्का] समुच्चय जाना जाता है, सो इसकी संगति भी प्रसिद्ध श्रुतिके विनियोगके अनुसार ही लगानी चाहिये। तथा अनुगीतामें भी भगवान्ने स्पष्ट ही चित्तशुद्धिके द्वारा कर्मोंका मोक्षसाधनत्व प्रतिपादन किया है—'फलासक्तिसे रहित विशुद्ध नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके द्वारा पुरुष चित्तशुद्धि प्राप्तकर फिर योगारूढ हो जाता है। तत्पश्चात् योगारूढ हुआ वह भगवान् विष्णुके उस परमपदको प्राप्त होता है। गुरुभक्ति, धैर्य, धर्मप्रेम, शास्त्रज्ञान और भगवद्भक्तिसे ही सर्वदा निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः वह बुद्धिमान् पुरुष वेदके प्रति श्रद्धासे युक्त और धर्मपरायण होकर यथाशक्ति नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ तथा उनके फल परब्रह्म परमात्मा श्रीवासुदेवको समर्पण करता हुआ शुद्धचित्त हो जाता है और फिर योगारूढ भी हो जाता है।'

वक्ष्यति च भगवान् सनत्सुजातः शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
स जायते ज्ञानविदीपितात्मा॥ (२।८)

'ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान्' इति।

भगवान् सनत्सुजात भी 'उस (ब्रह्मकी प्राप्ति) के लिये ही ये तप और यज्ञ बतलाये गये हैं। उनके द्वारा यह विद्वान् पुण्य प्राप्त करता है और फिर पुण्यके द्वारा पापको नष्ट कर वह ज्ञानसे आत्मसाक्षात्कार कर लेता है' तथा 'ज्ञानके द्वारा विद्वान् आत्माको प्राप्त होता है'—इन वाक्योंसे कर्मका चित्तशुद्धिके द्वारा ही मोक्षसाधनत्व बतलायेंगे।

ननु कथं सत्त्वशुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्? विनापि सत्त्वशुद्धिं ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यत्येव।

शङ्का—किंतु चित्तशुद्धिके द्वारा ही मोक्षसाधनत्व क्यों माना जाय? चित्तशुद्धि न होनेपर भी ज्ञानके द्वारा मोक्ष हो ही जायगा।

सत्यम्, ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यति, किंतु तदेव ज्ञानं सत्त्वशुद्धिं विना नोत्पद्यत इति वयं ब्रूमः। तथा चोक्तम्—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति।

तथा—

अनेकजन्मसंसारचिते पापसमुच्चये।
नाक्षीणे जायते पुंसां गोविन्दाभिमुखी मतिः॥
जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥ इति।

समाधान—ठीक है, मोक्ष तो ज्ञानसे ही होता है; तथापि हमारा कहना तो यह है कि बिना चित्तशुद्धिके वह ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। ऐसा ही कहा भी है—'पापकर्मोंका क्षय हो जानेपर लोगोंको ज्ञान होता है' तथा यह भी कहा है—'अनेक जन्मोंके संसरणसे एकत्रित हुई पापराशिका क्षय हुए बिना लोगोंको भगवन्मुखी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। सहस्रों जन्मान्तरोंमें तप, ध्यान और समाधिके द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, उन्हीं पुरुषों-की भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति होती है।'

तथा चोक्तं भगवता—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ इति।

तथा चाह याज्ञवल्क्यः—

'तथाविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः' इति।

ऐसा ही श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—'अनेक जन्मोंमें पूर्णतया सिद्धि पाकर तत्पश्चात् वह परमगतिको प्राप्त होता है। योगी तपस्वियोंसे बड़ा है और ज्ञानियोंसे भी बड़ा माना गया है तथा वह कर्मियोंसे भी उत्कृष्टतर है; अतः हे अर्जुन! तू योगी हो। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंमें लगा रहकर ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त करता है। अपने कर्मोंमें लगा रहकर वह जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, सो सुनो। जिससे सम्पूर्ण भूतोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण प्रपञ्च व्याप्त है, अपने कर्मोंद्वारा उसका पूजन करके पुरुष सिद्धि प्राप्त करता है।' तथा याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—'तथा जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं हैं, वह आत्मज्ञान (प्राप्त करने) के योग्य नहीं है।'

यस्माद् विशुद्धसत्त्वस्यैव नित्यानित्यवस्तुविवेकादि-द्वारेण मोक्षसाधनज्ञाननिष्पत्तिः, तस्मात्सत्त्वशुद्ध्यर्थं सर्वेश्वरमुद्दिश्य सर्वाणि वाङ्मनःकायलक्षणानि श्रौत-स्मार्तानि कर्माणि समाचरेद् यावद्विशुद्धसत्त्व इहामुत्रफलभोगविरागो योगारूढो भवति। तथा चाह भगवान्—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'

[इस प्रकार] क्योंकि शुद्धचित्त पुरुषको ही नित्यानित्यवस्तुविवेकके द्वारा मोक्षके साधनभूत ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है, अतः जबतक शुद्धचित्त होकर सब प्रकारके ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलभोगसे विरक्त हो योगारूढ़ न हो जाय, तबतक चित्तशुद्धिके लिये सर्वेश्वर श्रीभगवान्‌के उद्देश्यसे ही समस्त वाचिक, मानसिक और शारीरिक श्रौत एवं स्मार्त कर्मोंका सम्यक् प्रकारसे आचरण करे। ऐसा ही श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—'जो आरुरुक्षु मुनि है, उसके लिये तो कर्म ही साधन कहा जाता है।'

इति । 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' इति । तस्य लक्षणमुक्तम्—'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते । सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥' इति ।

'हे महाबाहो ! अयुक्तचित्त पुरुषके लिये संन्यासनिष्ठाका प्राप्त होना कठिन है' इत्यादि । उस संन्यासका लक्षण इस प्रकार कहा जाता है—'जिस समय योगी इन्द्रियोंके विषयोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता तथा सम्पूर्ण संकल्पोंको त्याग देता है, उस समय वह योगारूढ़ कहा जाता है ।'

यस्तु पुनरेवं यज्ञदानादिना विशुद्धसत्त्व इहामुत्रफलभोगविरागो योगारूढो भवति तस्य शम एव कारणं न कर्म इति । तथा चोक्तम्—'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' इति । यस्माद्योगारूढस्य शम एव कारणं न कर्म, तस्माच्छमदमादिसाधनसम्पन्नः श्रवणादिसमन्वितः 'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः । निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥'

किंतु इस प्रकार जो पुरुष यज्ञ-दानादिके द्वारा शुद्धचित्त हो ऐहिक और आमुष्मिक फलभोगसे विरक्त होकर योगारूढ़ हो जाता है, उसके लिये शम ही साधन है, कर्म नहीं; जैसा कि कहा है—'योगारूढ़ होनेपर उसके लिये शम ही साधन कहा जाता है ।' [इस प्रकार] क्योंकि योगारूढ़के लिये शम ही कारण है, कर्म नहीं; अतः शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न एवं श्रवणादियुक्त 'योगीको अपने चित्त और शरीरका संयम कर तथा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित हो निरन्तर एकान्तमें रहते हुए तृष्णाशून्य होकर अपने आत्माको स्वरूपमें स्थित करना चाहिये ।'

कथं तर्हि योगानुष्ठानं कार्यम् ?

शङ्का—तो फिर योगानुष्ठान किस प्रकार किया जाय?

शृणु—समे देशे शर्करावह्निवालुकाशब्दजलाशयादिवर्जिते मनोऽनुकूले शुचौ नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं स्थिरमासनं प्रतिष्ठाप्य तत्रोपविश्यासनं स्वस्तिकादि बद्ध्वा समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं विश्वादीन् विश्वतैजसप्राज्ञान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिक्रमेण कार्यकारणविनिर्मुक्ते पूर्णात्मनि उपसंहृत्य पूर्णात्मना स्थित्वा ध्यायेत्पुरिशयं देवं पूर्णानन्दं निरञ्जनम् अपूर्वानपरं ब्रह्म नेतिनेत्यादिलक्षणम् अशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितं परं परमात्मानमोमिति । तथा चोक्तं ब्रह्मविद्भिः—

समाधान—सुनो, जो कंकड़, अग्नि, बालू, शब्द और जलाशय आदिसे रहित हो, मनके अनुकूल हो एवं पवित्र हो ऐसी समान भूमिमें, जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा—ऐसा उत्तरोत्तर कुशा, मृगचर्म और वस्त्रका स्थिर आसन बिछाकर उसपर बैठकर अथवा स्वस्तिक या पद्मासन लगाकर शरीर, सिर और ग्रीवाको समान रखते हुए, विश्वादि—विश्व, तैजस और प्राज्ञ—को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके क्रमसे कार्यकारणशून्य पूर्ण परमात्मामें लीनकर, पूर्णरूपसे स्थित हो, हृदयदेशमें स्थित पूर्णानन्दस्वरूप, निर्मल, आदि-अन्तरहित, नेति-नेति इत्यादि क्रमसे लक्षित होनेवाले, क्षुधादि विकारोंसे असंस्पृष्ट तथा कभी उदित और अस्त न होनेवाले ज्ञानस्वरूपसे स्थित परब्रह्म परमात्माका 'ॐ' इस प्रकार ध्यान करे । ऐसा ब्रह्मवेत्ताओंने कहा भी

विविक्तदेशमाश्रित्य ब्राह्मणः शुद्धचेतसा ।
भावयेत्पूर्णमाकाशं हृद्याकाशाश्रयं विभुम् ॥
तथा चोक्तं ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयगीतासु—
तस्माद्विमोक्षाय कुरु प्रयत्नं
दुःखाद्विमुक्तो भवितासि येन।
ॐ ब्रह्म शून्यं परमं प्रधान
मानन्दमात्रं प्रणवं जुषस्व ॥इति॥

एवं युञ्जन् सदाऽऽत्मानं परमात्मत्वेन यदा साक्षाद्विजानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोकः कृतकृत्यो भवति । तथा च बृहदारण्यके—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥ इति । तथा च ईशावास्ये—'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥' इति । तथा च कठवल्लीषु--

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते,' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' इति । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

तथा चाह भगवान्—
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।
इति । तथा च कावषेयगीतासु--
आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो न बिभेति कुतश्चन ।
मृत्योः सकाशान्मरणादथवान्यकृताद्भयात् ॥

है कि 'ब्राह्मणको चाहिये कि एकान्त देशमें रहकर शुद्धचित्तसे अपने हृदयाकाशमें स्थित व्यापक पूर्णाकाशका चिन्तन करे ।' तथा ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत कावषेयगीतामें भी कहा है—'अतः तू मोक्षके लिये प्रयत्न कर, जिससे कि तू दुःखसे मुक्त हो जायगा । ॐ, जो शून्यस्वरूप, सर्वोत्कृष्ट, प्रधान और आनन्दमात्र ब्रह्म है, उस प्रणवका तू सेवन कर ।'

इस प्रकार योगाभ्यास करते हुए जब वह अपने सत्स्वरूप आत्माको साक्षात् परमात्मभावसे जानता है, तब वह अज्ञान और उसके कार्यसे रहित होकर निःशोक और कृतकृत्य हो जाता है । ऐसा ही बृहदारण्यकमें कहा है—'यदि पुरुष अपने-आपको यह जान ले कि मैं यह [ब्रह्म] ही हूँ तो वह क्या इच्छा करके अथवा किस कामनासे अपनेको अनुतप्त करेगा ?' तथा ईशावास्यमें कहा है—'जिस स्थितिमें ज्ञानीके लिये सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो जाते हैं, उस अवस्थामें एकत्वका अनुभव करनेवाले उस पुरुषके लिये क्या मोह और क्या शोक रह सकता है ?' इसी तरह कठवल्लियोंमें भी कहा है—'अत्यन्त कठिनतासे दिखायी देनेवाले, गूढ़स्थानमें अनुप्रविष्ट, बुद्धिरूप गुहामें स्थित, गहन स्थानमें रहनेवाले उस पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी प्राप्तिद्वारा जानकर बुद्धिमान् पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है,' 'उसका साक्षात्कार करके पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है', 'ब्रह्मानन्दको जाननेवाला पुरुष किसीसे भय नहीं मानता', 'उस परावर (कार्य-कारणरूप) परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इसके हृदयकी चिज्जडग्रन्थि टूट जाती है, सारे संदेह निवृत्त हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं' इत्यादि ।

तथा श्रीभगवान् भी कहते हैं—'यह आत्मतत्त्व अव्यक्त, अचिन्तनीय और अविकारी कहा जाता है । अतः इसे ऐसा जानकर तुझे शोक नहीं करना चाहिये । हे भारत ! इस आत्मतत्त्वको जानकर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है ।' कावषेयगीतामें भी कहा है—'आत्मज्ञ और शोकसे पार हुआ पुरुष मृत्युकी संनिधि, मरण अथवा किसी अन्य निमित्तसे होनेवाले भय आदि

न जायते न म्रियते न वध्यो न च घातकः ।
न बद्धो बद्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः ॥
पुरुषः परमात्मायं यत्ततोऽन्यदसच्च तत् ।
अज्ञानपाशे निर्भिन्ने छिन्ने महति संशये ॥
शुभाशुभे च संकीर्णे दग्धे बीजे च जन्मनाम् ।
प्रयाति परमानन्दं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ इति ।
तथा चाह भगवान् मनुः—
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥
एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ इति ॥

किसी भी कारणसे नहीं डरता; क्योंकि वह आत्मा न तो उत्पन्न होता है न मरता है, न मारा जानेवाला है न मारनेवाला है, न बद्ध है न बाँधनेवाला है और न मुक्त या मुक्ति देनेवाला ही है । यह पुरुष ही परमात्मा है । जो कुछ उससे भिन्न है, वह असत् है । अज्ञान-रूप बन्धनके टूट जानेपर, महान् संशयके निवृत्त हो जानेपर, शुभाशुभ कर्मोंका संकोच हो जानेपर तथा जन्म-मरणके बीजका दाह हो जानेपर पुरुष भगवान्के उस परमानन्दमय परमपदको प्राप्त हो जाता है ।' तथा भगवान् मनुने भी कहा है—'इन सबमें आत्मज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है, वही समस्त विद्याओंमें श्रेष्ठ है; क्योंकि उससे अमरत्वकी प्राप्ति होती है । यही विशेषतः ब्राह्मणके लिये जन्मकी सफलता है । इसे पाकर ही द्विज कृतकृत्य होता है, किसी अन्य प्रकार नहीं ।'

यस्मात्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिः, तस्मात्तमेव परमानन्दात्मानम् आत्मत्वेन जानीयादयमहमस्मीति न किंचिदन्यच्चिन्तयेत् । तथा च श्रुतिः—'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥' इति । 'तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ', 'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्' इति । तथा च भगवान् वासुदेवः—

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

इति ॥ एवं प्रसंगात्सर्वशास्त्रार्थः संक्षेपतो दर्शितः ॥

क्योंकि उसके ज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, अतः उस परमानन्दस्वरूप परमात्माको ही 'वह मैं हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूपसे जानना चाहिये; अन्य किसीका भी चिन्तन न करना चाहिये । जैसा कि श्रुति भी कहती है—'बुद्धिमान् ब्रह्मज्ञ पुरुषको उस परमात्माका ही ज्ञान प्राप्तकर उसीमें बुद्धिको स्थिर करना चाहिये । बहुत-से शास्त्रोंका अध्ययन न करे; क्योंकि वह (बहुशास्त्राध्ययन) तो वाणीको कष्ट देना ही है ।' 'एक उस आत्माको ही न जानो, और बातें छोड़ दो' तथा 'अपने आत्मामें स्थित यही सर्वदा ज्ञातव्य है, उससे भिन्न और कुछ भी जाननेयोग्य नहीं है ।' ऐसा ही भगवान् वसुदेवनन्दन भी कहते हैं—'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओंको सर्वथा त्यागकर तथा मनसे ही समस्त इन्द्रियोंको सब ओरसे रोककर धैर्यपूर्वक स्थिर की हुई बुद्धिके द्वारा मनको धीरे-धीरे शान्त करे तथा उसे आत्मामें स्थिर करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे ।' इस प्रकार प्रसंगवश सभी शास्त्रोंका विषय संक्षेपसे दिखला दिया गया है ।

अथेदानीं प्रकृतमनुसरामः—यस्मात्प्रमाद एव सर्वानर्थबीजं तस्मात् प्रमादमेवाहं मृत्युं ब्रवीमि । न

अब हम प्रसङ्गका अनुसरण करते हैं । क्योंकि प्रमाद ही समस्त अनर्थोंका मूल है, इसलिये मैं तो

यमम्। यमं तु पुनरेके विषयविषान्धा अविद्याधिरूढाः स्वात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं पश्यन्तो मृत्युमतो मयोक्तान्मृत्योःप्रमादादन्यं मृत्य्वन्तरं वैवस्वतमाहुः, आत्मावासम् आत्मनि बुद्धौ वसतीत्यात्मावासस्तम्। तथा चाह मनुः—

यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

अमृतम् अमरणधर्माणं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मणि स्वात्मभूते रममाणं ब्रह्मनिष्ठमित्यर्थः। श्रूयते कठवल्लीषु– 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति' इति। किं च पितृलोके राज्यमनुशास्तीति देवः। कथमनुशास्ति? शिवः सुखप्रदः शिवानां पुण्यकर्मणाम्, अशिवोऽसुखप्रदोऽशिवानां पापकर्मणाम्॥ ६॥

प्रमादको ही मृत्यु बतलाता हूँ, यमको नहीं; किंतु कुछ दूसरे लोग, जो विषयरूप विषसे अन्धे, अविद्याग्रस्त और अपनेसे भिन्न कोई दूसरा मृत्यु देखनेवाले हैं, वे मेरे बतलाये हुए प्रमादसंज्ञक मृत्युसे भिन्न यमको अर्थात् विवस्वान्‌के पुत्र यमराजको ही मृत्यु बतलाते हैं; किंतु यह यम तो आत्मावास है। जो आत्मा अर्थात् बुद्धिमें रहता है, उसे 'आत्मावास' कहते हैं। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—'यम सूर्यवंशी राजा है, जो कि तेरे हृदयमें स्थित है। यदि उससे तेरा कोई विरोध नहीं है तो तू भले ही मत गङ्गाको जा और मत कुरुक्षेत्रको।' तथा यह अमृत—अमरणधर्मा और 'ब्रह्मचर्य'—अपने आत्मभूत ब्रह्ममें रमण करनेवाला अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ है। जैसा कि कठोपनिषद्‌में सुना जाता है—'उस हर्षयुक्त और हर्षरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है?' तथा वह देव पितृलोकमें राज्य-शासन करता है। किस प्रकार शासन करता है?—शिव अर्थात् पुण्यकर्माओंके लिये शिव—सुखप्रद होकर तथा अशिव—पापकर्माओंके लिये अशिव—दुःखप्रद होकर॥ ६॥

कामादिके द्वारा प्रमादका बन्धहेतुत्व

एवं तावत् 'प्रमादं वै मृत्युम्' इति मृत्युरूपं निर्धारितम्। इदानीं तस्यैव कार्यात्मनावस्थानं दर्शयति—

इस प्रकार यहाँतक तो 'प्रमाद ही मृत्यु है' ऐसा कहकर मृत्युका स्वरूप निश्चय किया गया। अब यहाँसे उसीकी कार्यरूपसे स्थिति दिखलाते हैं—

आस्यादेष निःसरते नराणां क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च मृत्युः।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्न चात्मनो योगमुपैति किंचित्॥ ७॥

यह मृत्यु मनुष्योंके आस्य (अहंकार या काम) से उत्पन्न होता है तथा क्रोध, प्रमाद एवं मोहरूप हो जाता है। अतः यह जीव अहंकारस्थित अज्ञानके अधीन होकर विपरीत मार्गोंसे चलते रहनेके कारण परमात्माका कुछ भी योग प्राप्त नहीं कर पाता॥ ७॥

यः प्रमादाख्योऽज्ञानमृत्युः स प्रथममास्यात्मना परिणमते। आस्योऽभिमानात्मकोऽहंकारः। तथा

जो प्रमादसंज्ञक अज्ञानरूप मृत्यु है, वह पहले आस्यरूपमें परिणत होता है। 'आस्य' अभिमानात्मक अहंकारका नाम है। ऐसा ही

चोक्तम्—

सर्वार्थक्षेपसंयोगादसुधातुसमन्वयात् ।
आस्य इत्युच्यते घोरो ह्यहंकारो गुणो महान् ॥

कहा भी है—'सब प्रकारके पदार्थोंका क्षय करनेके कारण तथा 'असु' धातुसे युक्त होनेके कारण 'आस्य' इस शब्दसे अत्यन्त घोर अहंकाररूप गुण कहा जाता है।'

एवमहंकारात्मना स्थित्वा ततोऽहंकारान्निःसरते निर्गच्छति कामात्मना । ततः कामः स्वविषये प्रवर्तमानः प्रतिहतः क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च भवति । ततोऽहंगतेनाहंरूपमापन्नेनाहंकाराद्यात्मना स्थितेनाज्ञानेन तदात्मभावमापन्नः, 'ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता' इत्येवमात्मको रागद्वेषादिसमन्वितश्चरन् विमार्गान् श्रौतस्मार्तविपरीतान् मार्गान् न चात्मनः परमात्मनो योगं समाधिलक्षणमुपैति किंचिदपि ।

इस प्रकार अहंकाररूपसे स्थित होकर फिर यह अहंकारसे कामरूपमें प्रकट होता है। तत्पश्चात् अपने विषयमें प्रवृत्त हुआ काम बाधा पड़नेपर क्रोध, प्रमाद एवं मोहरूप हो जाता है। फिर अहंगत अहंरूपको प्राप्त हुए अर्थात् अहंकारादिरूपसे स्थित हुए अज्ञानके वशीभूत हो अर्थात् तद्रूपताको प्राप्त हो 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इसका पुत्र हूँ, इसका नाती हूँ' इस प्रकार राग-द्वेषादिसे युक्त होकर विमार्गोंमें अर्थात् श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित मार्गोंसे भिन्न मार्गोंमें चलता हुआ यह जीव आत्मा यानी परमात्माके समाधिरूप योगको तनिक भी प्राप्त नहीं करता।

अथवाविद्याकामकर्माणि संसारस्य प्रयोजकभूतानि । पूर्वत्र 'मोहो मृत्युः सम्मतः' इत्यनेनाग्रहणान्यथाग्रहणात्मिका अविद्या दर्शिता । उत्तरत्र 'कर्मोदये' इति कर्म वक्ष्यति ।

अथवा, (यों समझो कि) अविद्या, कामना और कर्म—ये संसारके प्रयोजक हैं। पहले 'मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम्' (१।४) इत्यादि वाक्यद्वारा अग्रहण और अन्यथाग्रहणरूपा अविद्याका वर्णन किया गया है। आगे 'कर्मोदये कर्मफलानुरागाः' (१।९) इत्यादि वाक्यसे कर्मका वर्णन किया जायगा।

अथेदानीं कामोऽभिधीयते—अस्यन्ते क्षिप्यन्ते अनेन संसारे प्राणिन इत्यास्यः कामः । अथवा—आस्यवदास्यं सर्वजग्धृत्वात् । तथा चोक्तं भगवता—'काम एष क्रोध एषः' इति । एष मृत्युरास्यात्मना स्थित्वा ततः क्रोधात्मना विपरिणमते । उक्तं च—'कामात्क्रोधोऽभिजायते' इति । ततोऽहंगतेनाहंकारापन्नेनाज्ञानेनाहंकार ममकार फलकारूढेन चिदाभासेन चरन् विमार्गान् न चात्मनो योगमुपैति किंचित् ॥ ७ ॥

अब यहाँ कामका वर्णन किया जाता है। इस (काम) के द्वारा प्राणी संसारमें डाले जाते हैं, इसलिये काम 'आस्य' है। अथवा भक्षण करनेवाला होनेसे यह आस्य (मुख) के समान आस्य है; जैसा कि श्रीभगवान्‌ने कहा है—'यही (महान् भक्षणशील और अत्यन्त पापी) काम और यही क्रोध है' इत्यादि। यह मृत्यु पहले आस्य—कामरूपसे स्थित होकर फिर क्रोधरूपमें परिणत हो जाता है। कहा भी है—'कामसे क्रोध उत्पन्न होता है' इत्यादि। फिर अहंगत—अहंकाररूपको प्राप्त हुए अज्ञानके द्वारा अर्थात् अहंकार और ममतारूप दर्पणपर प्रतिफलित हुए चिदाभासरूपसे विपरीत मार्गोंमें चलता हुआ यह जीव आत्माका कुछ भी योग प्राप्त नहीं करता ॥ ७ ॥

किंच—

तथा—

ते मोहितास्तद्वशे वर्त्तमाना इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तं देवा अनु परिप्लवन्ते अतो मृत्युं मरणादभ्युपैति ॥ ८ ॥

वे, जो उस अहंकारके वशीभूत हैं, मोहग्रस्त रहते हैं और इस लोकसे (मरकर) जानेपर पुनः इसीमें गिरते हैं । इसके पश्चात् उस जीवको इन्द्रियगण भटकाते रहते हैं, इसलिये वह पुनः मृत्युसे मृत्युको ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

तेऽहंकारादिरूपेण स्थितेनाज्ञानेन मोहिताः—देहाद्यात्मभावमापादिताः, तद्वशेऽहंकाराद्यात्मना परिणतप्रमादाख्यमृत्युवशे वर्त्तमाना इतोऽस्मात्प्रेता धूमादिमार्गेण गत्वा तत्र परलोके यावत्सम्पातमुषित्वा पुनराकाशवायुवृष्टिसस्यान्नशुक्रशोणितादिक्रमेण देहग्रहणाय पतन्ति निपतन्ति । श्रूयते च—'तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' ।

अहंकारादिरूपसे स्थित हुए उस अज्ञानके द्वारा मोहित—देहादिमें आत्मभावको प्राप्त कराये हुए तथा उसके अधीन अर्थात् अहंकारादिरूपमें परिणत उस प्रमादसंज्ञक मृत्युके अधीन हुए वे लोग यहाँ—इस लोकसे (मरकर) जानेपर धूमादि मार्गसे जाकर पतन होनेपर्यन्त परलोकमें रहकर आकाश, वायु, वृष्टि, सस्य, अन्न एवं शुक्र-शोणितादि क्रमसे पुनः देह ग्रहण करनेके लिये (इसी लोकमें) गिरते हैं । (इस विषयमें) ऐसी श्रुति भी है—'उस (परलोक) में पतनकाल उपस्थित होनेतक रहकर वे पुनः इसी मार्गमें लौट आते हैं ।'

ततोऽनन्तरं पुनर्देहग्रहणावस्थायां तं देवा इन्द्रियाण्यनुसृत्य कर्माणि परिसमन्तात्प्लवन्ते समन्ततः परिवर्तन्त इत्यर्थः । अतोऽस्मात्कारणादिन्द्रियगुणानुसरणान्मृत्युं मरणं याति । ततो मरणाज्जन्माभ्युपैति ततो मृत्युम् । एवं जन्ममरणप्रबन्धारूढो न कदाचिन्मुच्यत इत्यर्थः । आत्माज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य यावत्परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न जानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागद्वेषादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणो मोमुह्यमानः संसरन्नवतिष्ठत इत्यर्थः ॥८॥

फिर इसके पश्चात् देहधारणकी अवस्थामें उसके कर्मोंका अनुसरण करते हुए उसे देव—इन्द्रियगण परिप्लवित करते हैं—परि—सब ओर 'प्लवन्ते' परिवर्तित करते (भटकाते) हैं । अतः इस कारणसे अर्थात् इन्द्रियोंके गुणोंका अनुसरण करनेसे वह मरणको प्राप्त होता है और उस मृत्युसे जन्मान्तरको तथा उससे पुनः मृत्युको प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जन्म-मरणकी परम्परामें पड़ा हुआ यह जीव कभी मुक्त नहीं होता । अर्थात् जबतक यह परमात्माको साक्षात् अपने आत्मस्वरूपसे नहीं जानता, तबतक यह तापत्रयसे दबा रहकर मकरादिके समान रागादि दोषोंसे इधर-उधर खींचा जाता हुआ मोहग्रस्त हो जन्म-मरणरूप संसारमें पड़ा रहता है; क्योंकि संसारका कारण आत्माका अज्ञान ही है ॥ ८ ॥

एवं तावदविद्याकामयोर्बन्धहेतुत्वमभिहितम् ।

अथेदानीं कर्मणां बन्धहेतुत्वमाह—

इस प्रकार यहाँतक अविद्या और कामकी बन्ध-हेतुताका प्रतिपादन किया गया । अब यहाँसे कर्मोंकी बन्धहेतुताका वर्णन किया जाता है—

कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात्समन्तात् प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

कर्मानुष्ठान करनेपर कर्मफलमें आसक्त हुए जीव उस (कर्मविपाक) का ही अनुसरण करते हैं । वे मृत्युको पार नहीं कर पाते । देहधारी जीव सद्वस्तुके योगका ज्ञान न होनेसे ही भोगवश सब ओर भटकता रहता है ॥ ९ ॥

अमृत्युः कर्मणा केचिदिति कर्मणामृतत्वं भवतीति यन्मतान्तरमुपन्यस्तं तन्निराकरोति— न केवलं कर्मणा अमृतत्वं भवति, अपितु कर्मोदये कर्मणामुत्पत्तौ कर्मफलानुरागाः सन्तस्तत्र तस्मिन् कर्मफलेऽनुयान्ति । यस्मात्तत्रैवानुयान्ति, अतो न तरन्ति मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणात्मके संसारे परिवर्त्तन्त इत्यर्थः ।

'अमृत्युः कर्मणा केचित्' इस श्लोकद्वारा जो 'कर्मसे अमृतत्व होता है' ऐसे एक मतान्तरका उल्लेख किया है, उसका अब निराकरण करते हैं—कर्मसे अमृतत्व नहीं होता, केवल इतना ही नहीं, बल्कि कर्मोदय अर्थात् कर्मोंकी उत्पत्ति होनेपर जीव कर्मफलके अनुरागी होकर उस कर्मफलका ही अनुसरण करते हैं । क्योंकि वे कर्मफलका ही अनुसरण करते हैं, इसलिये मृत्युको पार नहीं कर पाते, अर्थात् बारंबार जन्म-मरण-रूप संसारमें ही भटकते रहते हैं ।

कस्मात्पुनः कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रैव परिवर्त्तन्ते ? सदर्थयोगानवगमात् । सदर्थेन योगः सदर्थयोगः परमात्मना योगस्तस्य सदर्थयोगस्य एकत्वस्यानवगमात् स्वात्मनश्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावानवगमादित्यर्थः । समन्तात्समन्ततः प्रवर्तते भोगयोगेन विषयरसबुद्ध्या देही । यथा ह्यन्धो निम्नोन्नतकण्टकस्थलादिषु परिभ्रमति, एवमसावपि विवेकहीनः सर्वत्र विषयसुखाकाङ्क्षया परिभ्रमति ॥ ९ ॥

किंतु कर्मकी उत्पत्ति होनेपर वे कर्मफलके अनुरागी होकर उसीमें क्यों भटकने लगते हैं ? (इसपर कहते हैं—) सदर्थयोगका ज्ञान न होनेसे । सद्वस्तुके साथ जो योग है, उसे सदर्थयोग अर्थात् परमात्माके साथ योग कहते हैं, उस सदर्थयोग अर्थात् (सद्वस्तुके साथ) एकत्वका ज्ञान न होनेसे यानी अपने आत्माके चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूपत्वका ज्ञान न होनेसे देही (जीव) भोगवश विषयरसबुद्धिके कारण सब ओर भटकता रहता है । जिस प्रकार अन्धा आदमी नीचे, ऊँचे और कण्टकाकीर्ण स्थानोंमें घूमता रहता है, उसी प्रकार यह भी विवेकहीन होकर विषयसुखकी इच्छासे सर्वत्र भटकता रहता है ॥ ९ ॥

किंच—

तथा—

तद्धै महामोहनमिन्द्रियाणां मिथ्यार्थयोगेऽस्य गतिर्हि नित्या।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात्॥१०॥

यह (भोग-प्रवृत्ति) ही इन्द्रियोंका महामोह है; क्योंकि मिथ्या पदार्थोंके प्रति इस जीवकी निश्चित प्रवृत्ति है, अतः यह उन मिथ्या पदार्थोंके संयोगसे अपने स्वरूप (स्वाभाविक ब्रह्मभाव) से भ्रष्ट होकर विषयोंका स्मरण करते हुए सब प्रकार उन्हींका सेवन करता है ॥ १० ॥

यद्रागाभिभूतस्य इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवर्त्तनं तन्महामोहनम् । एतदुक्तं भवति—यस्य विषयेषु अवास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणि विषयेषु न प्रवर्तन्ते । तस्य विषयेषु प्रवृत्त्यभावात् प्रत्यगात्मन्येव प्रवृत्तिः, ततश्च मोहनिवृत्तिः । यस्य विषयेषु वास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणां पराग्भूतेषु विषयेषु प्रवृत्तत्वान्न स इमं सदद्वितीयं प्रत्यग्भूतं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति । तथा चोक्तम्—'स्त्रीपिण्डसम्पर्ककलुषितचेतसो विषयविषान्धा ब्रह्म न जानन्ति' इति ।

रागाभिभूत जीवका जो इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त होना है, वही महामोह है । इस विषयमें ऐसा कहा जाता है कि जिसकी विषयोंमें अवास्तव बुद्धि होती है, उसकी इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होतीं तथा विषयोंमें प्रवृत्ति न होनेके कारण उसकी प्रत्यगात्माके प्रति ही प्रवृत्ति होती है और उससे उसके मोहकी निवृत्ति हो जाती है; किंतु जिसकी विषयोंमें वास्तव बुद्धि होती है, वह इन्द्रियोंके बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त रहनेके कारण इस सत्स्वरूप अद्वितीय एवं प्रत्यग्भूत परमात्माको साक्षात् आत्मस्वरूपसे नहीं जानता । जैसा कहा है—'जिनका चित्त स्त्रीशरीरके संसर्गसे कलुषित हो गया है, वे विषयरूप विषसे अन्धे हुए जीव ब्रह्मको नहीं जानते ।'

ततश्च महामोहेन पुनः पुनर्विषयेषु प्रवृत्तिः । तथा चाह भगवान् मनुः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥इति॥

इसीसे महामोहके कारण उनकी पुनः-पुनः विषयोंमें प्रवृत्ति होती है । ऐसा ही भगवान् मनु भी कहते हैं—'विषयोंकी इच्छा कभी उनके सेवनसे शान्त नहीं होती, बल्कि हविसे अग्निके समान उनसे तो वह और भी बढ़ जाती है ।'

ततश्च मिथ्यार्थैरविद्याकल्पितैः शब्दादिविषयैर्योगो भवति । तस्मिन् मिथ्यार्थयोगेऽस्य देहिनो गतिः संसारगतिर्नित्या नियता । प्रसिद्धं ह्येतत्—स्वात्मभूतं परमात्मानमनवगम्य विषयेषु प्रवर्तमानाः पराभूतास्तिर्यगादियोनिं प्राप्नुवन्तीति । तथा च बह्वृचब्राह्मणोपनिषदि—'या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रोऽत्यायमायंस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः' इति । वक्ष्यति च—'कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति' इति ।

उसके पश्चात् मिथ्या पदार्थोंसे अर्थात् अविद्याद्वारा कल्पना किये हुए शब्दादि विषयोंसे सम्बन्ध होता है । उस मिथ्या वस्तुओंके संयोगके होनेपर इस देहीकी संसारमें प्रवृत्ति होनी निश्चित है । यह तो प्रसिद्ध ही है कि जीव अपने आत्मभूत परमात्माको न जानकर विषयोंमें प्रवृत्त होते हुए बहिर्मुख होकर तिर्यगादि योनिको प्राप्त होते हैं । ऐसा ही ऋग्वेदीय ब्राह्मणोपनिषद्में भी कहा है—'जिन इन तीन प्रसिद्ध प्रजाओंने धर्मका उल्लङ्घन किया था, वे ये पक्षी, वङ्ग (वनके वृक्ष), वगध (ओषधियाँ) और इरपद (सर्पादि) हैं ।' तथा आगे भी कहेंगे कि 'कामका अनुसरण करनेवाला पुरुष कामनाओंके पीछे ही नष्ट हो जाता है ।'

कस्मात्पुनर्मिथ्यार्थयुक्तस्य गतिर्हि नित्येति ? तत्राह—मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा । मिथ्याभूतविषयसंयोगेनाभिहतान्तरात्मा यस्य सः अभिहतस्वाभाविकब्रह्मभावः स्मरन् शब्दादिविषयान् तानेवोपास्ते न परमात्मानं समन्तात् समन्ततः ॥ १० ॥

तो फिर ऐसा क्यों कहा कि मिथ्या वस्तुओंके प्रति इसकी प्रवृत्ति स्वाभाविकी है ? इसपर कहते हैं कि मिथ्या विषयोंके संयोगसे अभिहतान्तरात्मा अर्थात् मिथ्या विषयोंका संयोग होनेसे जिसके अन्तरात्माका अभिघात हो गया है ऐसा स्वाभाविक ब्रह्मभावसे भ्रष्ट हुआ पुरुष स्त्री आदि विषयोंका स्मरण करता हुआ सब ओरसे उन्हींका सेवन करता है, परमात्माकी उपासना नहीं करता ॥ १० ॥

ततः किमिति चेत्तत्र यद्भवति तच्छृणु—

यदि कहो कि इससे क्या होता है तो ऐसी अवस्थामें जो होता है, वह सुनो—

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति चैनं कामक्रोधौ गृह्य चैनं च पश्चात् ।
एतान् बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥ ११ ॥

पहले तो इसे विषय-चिन्ता भ्रष्ट करती है, फिर काम और क्रोध इसे पकड़कर नष्ट कर देते हैं । ये सब मूर्ख जीवोंको मृत्युको प्राप्त करा देते हैं, किंतु बुद्धिमान् पुरुष तो धैर्यपूर्वक मृत्युको पार कर जाते हैं ॥ ११ ॥

अभिध्या विषयध्यानं प्रथमं हन्ति विनाशयति स्वरूपात्प्रच्युतं करोति, ततो विषयध्यानाभिहतमेनं विषयसंनिधौ शीघ्रं प्रतिगृह्य कामश्च हन्ति । ततः कामाभिहतमेनं प्रतिगृह्य क्रोधश्च हन्ति ।

पहले तो इसे अभिध्या—विषयचिन्ता नष्ट करती अर्थात् स्वरूपसे च्युत कर देती है । फिर विषय-चिन्ताद्वारा नष्ट हुए इस जीवको शीघ्र ही विषयकी संनिधिमें पकड़कर काम नष्ट करता है और तत्पश्चात् कामद्वारा अभिहत हुए इसे क्रोध नष्ट कर देता है ।

तदेतेऽभिध्यादय एतानभिध्याकामक्रोधवशंगतान् बालानविवेकिनो मूढान् मृत्यवे प्रापयन्ति क्षिपन्ति । श्रूयते च कठवल्लीषु—

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ इति ।

वे ये अभिध्या आदि अभिध्या, काम और क्रोधके वशीभूत हुए इन बाल—विवेकहीन अर्थात् मूढ पुरुषोंको मृत्युको प्राप्त करा देते हैं; यानी उन्हें मृत्युके पंजेमें डाल देते हैं । कठवल्लियोंमें सुना भी जाता है—'मूढ पुरुष बाह्य भोगोंका ही अनुसरण करते हैं, अतः वे मृत्युके विस्तृत पाशमें पड़ते हैं; किंतु जो बुद्धिमान् हैं, वे अमृतत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर इन नाशवान् पदार्थोंमेंसे किसीकी इच्छा नहीं करते ।'

धीरास्तु पुनर्धैर्येण विषयान् जित्वा परमात्मानमात्मत्वेनावगम्य तरन्ति मृत्युम् । श्रूयते च—'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इति ॥ ११ ॥

किंतु बुद्धिमान् पुरुष तो धैर्यपूर्वक समस्त विषयोंको जीतकर परमात्माको अपने आत्मस्वरूपसे जानकर मृत्युके पार हो जाते हैं । जैसी कि 'उसे जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है' यह श्रुति भी है ॥ ११ ॥

विवेकी मृत्युकी मृत्यु है

कथं पुनर्धीरास्तु धैर्येण विषयान् जित्वा मृत्युं तरन्तीत्यत आह—

बुद्धिमान् लोग धैर्यपूर्वक विषयोंको जीतकर किस प्रकार मृत्युके पार हो जाते हैं ? सो बतलाते हैं—

योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्निहन्यादनाचारेणाप्रतिबुध्यमानः ।
स वै मृत्युं मृत्युरिवात्ति भूत्वा ह्येवं विद्वान् योऽभिहन्तीह कामान् ॥ १२ ॥

जो पुरुष क्षणभङ्गुर विषयोंको तुच्छ समझकर त्याग देता है और निरादरपूर्वक उन्हें फिर स्मरण नहीं करता एवं जो ऐसा समझकर विषयोंकी कामनाको भी नष्ट कर देता है, वह निश्चय ही [मृत्युका मृत्युरूप होकर] मृत्युके समान ही मृत्युको भक्षण कर जाता है ॥ १२ ॥

योऽभिध्यायन्, अनित्याशुचिदुःखानुविद्धतया उत्पतिष्णून् उत्पत्योत्पत्य पतन्तीत्युत्पतिष्णवो विषयास्तान्निहन्यात् परित्यजेत् । अनाचारेण अनादरेण अमेध्यदर्शन इव अप्रतिबुध्यमानः पुनः पुनरचिन्तयन् स वै पुरुषो मृत्योरेव मृत्युर्भूत्वा मृत्युरिवात्ति मृत्युम् । उक्तं च—'विषयप्रतिसंहारं यः करोति विवेकतः । मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वानात्मवित्कविः' इति ॥ १२ ॥

जो उत्पतिष्णु—जो उत्पन्न हो-होकर नष्ट होनेवाले हैं, उन विषयोंको 'अभिध्यायन्'—अनित्य, अपवित्र और दुःखमिश्रित समझकर त्याग देता है और अपवित्र वस्तुको देखनेके समान अनाचार—अनादर अर्थात् उदासीनतापूर्वक उन्हें फिर चिन्तन नहीं करता, वह पुरुष निश्चय ही मृत्युका भी मृत्यु होकर मृत्युके समान ही मृत्युको खा जाता है; जैसा कि कहा भी है—'जो विवेक-द्वारा विषयोंका नाश कर देता है, वह विद्वान् आत्मवेत्ता क्रान्तदर्शी पुरुष मृत्युका भी मृत्यु कहा गया है' ॥ १२ ॥

एवमनित्यादिरूपेण विद्वान् सन् अनादरादिना अभिहन्ति कामान् । यः पुनरनादरादिना नाभिहन्ति स किं करोतीत्याह—

इस प्रकार अनित्यादिरूपसे चिन्तन करता हुआ विद्वान् अनादरादिपूर्वक विषयोंको त्याग देता है; किंतु जो अनादरादिपूर्वक उनका त्याग नहीं करता, वह क्या करता है ? सो बतलाया जाता है—

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत्किंचित्पुरुषो रजः ॥ १३ ॥

कामनाओंका अनुसरण करनेवाला पुरुष कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है । कामनाओंका त्याग करके पुरुष जो कुछ भी पाप-पुण्यादिरूप कर्म हैं, उनको ध्वंस कर देता है ॥ १३ ॥

यस्तु पुनर्विषयाभिध्यानेन कामानुसारी भवति स कामाननु विनश्यति कामविषये नष्टे कामाननु कामैः सह विनश्यति । अनित्याः कामगुणाः

जो पुरुष विषयोंका चिन्तन करता हुआ कामनाओं-का अनुसरण करनेवाला होता है, वह कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है अर्थात् इच्छित विषयका नाश होने-पर उसके साथ ही वह भी नष्ट हो जाता है । कामनाके

प्रतिक्षणं विनाशान्विताः, तद्वत्कामी विशीर्णो भवति ।

यस्तु पुनर्विषयदोषदर्शनेन कामान् परित्यजति स कामान् व्युदस्य परित्यज्य विवेकबुद्ध्या धुनुते ध्वंसयति यत्किंचिदिह जन्मनि जन्मान्तरे च उपार्जितं रजः पुण्यपापादिलक्षणं कर्म ॥ १३ ॥

विषयभूत पदार्थ अनित्य हैं और प्रतिक्षण विनाशयुक्त हैं। उन्हींके समान कामना करनेवाला पुरुष भी नष्ट हो जाता है ।

किंतु जो पुरुष विषयोंमें दोषदृष्टि करके कामनाओंका त्याग कर देता है, वह उनका त्याग करके इस जन्म और जन्मान्तरमें जो कुछ रजस् अर्थात् पुण्य-पापरूप कर्म संचित किया होता है, उस सबको विवेकवती बुद्धि-के द्वारा ध्वंस कर देता है ॥ १३ ॥

देहासक्ति पतनका हेतु है

कथं पुनरस्य देहस्य काम्यमानस्य हेयत्व-मित्याशङ्क्याह—

तो फिर कामनाके विषयभूत इस देहका हेयत्व किस प्रकार है ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

देहोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
गृध्यन्त एव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः ॥ १४ ॥

यह जो जीवोंका देह दिखायी देता है, वह अन्धकाररूप और नरकमय है । जो लोग इसकी लालसा करते हुए इसकी ओर दौड़ते हैं, वे गढ़ेकी ओर जानेवाले [अन्धे] पुरुषोंके समान विवेकहीन होनेके कारण [नरकादिमें] गिरते हैं ॥ १४ ॥

योऽयं भूतानां देहो दृश्यते सोऽप्रकाशः—तमोऽचिद्घनः केवलं नरकः श्लेष्मासृक्पूयकृमि-विण्मूत्रपूर्णत्वात् । तथा चाह भगवान् मनुः—

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसक्षतजलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ इति ॥

यह जो प्राणियोंका शरीर देखा जाता है, वह कफ, रक्त, पीब, कृमि, विष्ठा और मूत्रसे पूर्ण होनेके कारण अप्रकाश—तमोमय यानी जडरूप और केवल नरक ही है । यही भगवान् मनुने भी कहा है—'जिसमें अस्थि-रूप कड़ियाँ और स्नायुरूप बन्धन हैं, जो मांस और रक्तसे लिथड़ा हुआ, चर्मसे लिपटा हुआ, दुर्गन्धयुक्त एवं मल-मूत्रसे भरा हुआ है तथा जो जरा और शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखपूर्ण, मलिन और अनित्य है; ऐसे इस भूतावास (प्रेतादिके अथवा पञ्चभूतोंके आश्रय-भूत शरीर) को त्याग दे ।'

एवमत्यन्तबीभत्सितं स्त्र्यादिदेहं कमनीयबुद्ध्या गृध्यन्तोऽभिकाङ्क्षन्त एव धावन्ति अनु धावन्ति । गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः, यथा अन्धाः कूपादिकं विवेक्तुमशक्ताः कूपादिषून्मुखाः पतन्ति, एवं

इस प्रकार अत्यन्त घृणित होनेपर भी लोग स्त्री आदिके शरीरको रमणीयबुद्धिसे चाहते हुए ही उसकी ओर दौड़ते हैं; किंतु 'गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः'—जिस प्रकार अन्धेलोग कुएँ आदिका निश्चय करनेमें समर्थ न होनेके कारण उनकी ओर जाते हुए उनमें गिर जाते

स्त्र्याद्यभिकाङ्क्षन्तो विषयविषान्धा उन्मुखाः पतन्ति नरकेष्वित्यर्थः ॥ १४ ॥

हैं, उसी प्रकार स्त्री आदिकी इच्छा करनेवाले विषयरूप विषसे अन्धे हुए लोग उन (नरकरूप शरीरों) की ओर जाते हुए नरकोंमें गिरते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १४ ॥

विषयी जीवोंके जीवनकी व्यर्थता

य एवं गृध्यन्त एव धावन्ति तेषां देहो निरर्थक इत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि जो इस प्रकार कामना करते हुए विषयोंकी ओर दौड़ते हैं, उनका शरीर व्यर्थ ही है—

अमन्यमानः क्षत्रिय कंचिदन्यं नाधीयते तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
क्रोधाल्लोभान्मोहभयान्तरात्मा स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ॥१५॥

हे क्षत्रिय ! जो पुरुष इन विषयोंसे भिन्न किसी ईश्वरादिको न मानकर तत्सम्बन्धी शास्त्रोंका भी अध्ययन नहीं करता, उसका शरीर तृणके व्याघ्रके समान [निरर्थक] है । [ऐसी अवस्थामें तो] तेरे शरीरमें जो यह मोह एवं भयपूर्ण अन्तरात्मा है, वही क्रोध और लोभके कारण तेरी मृत्यु है ॥ १५ ॥

यः स्त्र्यादिकमभिकाङ्क्षन्ननुधावति स विषयविषान्धस्तद्व्यतिरिक्तं स्वात्मभूतं परमात्मानममन्यमानोऽप्रतिबुध्यमानो नाधीयते तद्विषयमध्यात्मशास्त्रं नाधिगच्छति । तस्यास्य विषयविषान्धस्य षडङ्गवेदविदुषोऽपि देहस्तृणनिर्मितव्याघ्र इव निरर्थको भवति । तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

चतुर्वेदोऽपि यो विप्रः सूक्ष्मं ब्रह्म न विन्दति ।
वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः ॥इति॥

जो स्त्री आदिकी लालसासे उनकी ओर दौड़ता है, वह विषयरूप विषसे अन्धा हुआ पुरुष उससे भिन्न अपने अन्तरात्मभूत परमात्माको न माननेके कारण अध्ययन यानी तद्विषयक अध्यात्मशास्त्रका आलोचन भी नहीं करता । छहों अङ्गोंके सहित समस्त वेदोंको जाननेवाले भी उस विषयरूप विषसे अन्धे हुए पुरुषका देह तृणनिर्मित व्याघ्रके समान व्यर्थ ही है । ऐसा ही भगवान् वसिष्ठजीने भी कहा है—'जो ब्राह्मण चारों वेदोंका ज्ञाता होनेपर भी सूक्ष्म परब्रह्मका अनुभव नहीं करता, वह वेदरूप भारसे दबा हुआ ब्राह्मणरूप गधा ही है ।'

न केवलं देहो निरर्थकः—य एवंभूतः स एव तस्य मृत्युरित्याह—क्रोधाल्लोभान्मोहभयान्तरात्मा इति । क्रोधलोभाभ्यां हेतुभ्यां मोहभयसमन्वितोऽन्तरात्मा त्वच्छरीरे य एष तवात्मा दृश्यते स एव तव मृत्युः । यः पुनरजितेन्द्रियः क्रोधलोभादिसमन्वितो विषयेषु प्रवर्तते स एव

उसका केवल देह ही निरर्थक नहीं है; बल्कि जो ऐसा है उसका तो वह स्वयं ही मृत्यु है, सो 'क्रोधाल्लोभान्मोहभयान्तरात्मा' इन पदोंसे बतलाते हैं । तेरे शरीरमें जो यह मोह और भयसे युक्त अन्तरात्मा दिखायी देता है, क्रोध और लोभरूप हेतुओंके कारण वही तेरी मृत्यु है । जो पुरुष अजितेन्द्रिय होता है और क्रोध एवं लोभादिसे युक्त होकर विषयोंमें प्रवृत्त होता

तस्य मृत्युः, विनाशहेतुत्वात् । उक्तं च— 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' इति ॥ १५ ॥

है, अपने विनाशका हेतु होनेके कारण वही उसकी मृत्यु है। ऐसा ही कहा भी है—'आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है' ॥ १५ ॥

मृत्युनाशका उपाय

तर्हि केनोपायेन मृत्योर्विनाश इत्याह—

तो फिर (इस) मृत्युका नाश किस प्रकार हो सकता है, सो बतलाते हैं—

एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्युर्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥ १६ ॥

इस प्रकार मृत्युको [क्रोधादिरूपसे] उत्पन्न होनेवाली जानकर पुरुष ज्ञानस्वरूपसे स्थित होकर मृत्युसे भय नहीं मानता; क्योंकि [परमात्माका] साक्षात्कार कर लेनेपर उस ज्ञानीकी मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्युके अधिकारमें आकर मनुष्य मर जाता है ॥ १६ ॥

एवं क्रोधादिरूपेण जायमानं प्रमादाख्यं मृत्युं जननमरणादिसर्वानर्थबीजं विदित्वा क्रोधादीन् भूतदाहीयान् दोषान् परित्यज्याक्रोधादीन् सम्पाद्य ज्ञानेन चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः । तथा च श्रुतिः— 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' इति ।

इस प्रकार क्रोधादिरूपसे उत्पन्न होनेवाली प्रमाद-संज्ञक मृत्युको जन्म-मरणादि सम्पूर्ण अनर्थोंका बीज जानकर जीवोंको जलानेवाले क्रोधादि दोषोंको त्यागकर तथा अक्रोधादिका सम्पादन कर ज्ञान अर्थात् सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मभावसे स्थित हुआ पुरुष फिर मृत्युसे नहीं डरता । ऐसी ही श्रुति भी है—'ब्रह्मानन्दको जाननेवाला पुरुष किसीसे भी भय नहीं मानता ।'

कस्मात्पुनर्ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योरित्याह—विनश्यते । तस्य ज्ञानिनो विषये गोचरे परमात्मनि साक्षात्क्रियमाणे प्रमादाख्योऽज्ञानमृत्युः । यथा मृत्योर्विषयं संसारमागतो मृत्युनाभिभूतो नष्टो भवति मर्त्यः, एवमात्मवेदिनो विषयमागतोऽज्ञानमृत्युर्नष्टो भवति । उक्तं च ज्ञानमहोदधौ—'ज्ञानसंस्थानसद्भावो ज्ञानाग्निर्ज्ञानवज्रभृत् । मृत्युं हन्तीति विख्यातः स वीरो वीतमत्सरः' इति ॥ १६ ॥

किंतु ज्ञानस्वरूपसे स्थित रहनेपर पुरुष मृत्युसे क्यों नहीं डरता, सो बतलाते हैं—विषय—गोचर अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर उस ज्ञानीकी प्रमाद-संज्ञक अज्ञानरूप मृत्यु नष्ट हो जाती है । जिस प्रकार मृत्युके विषयभूत संसारको प्राप्त हुआ मरणधर्मा जीव मृत्युसे अभिभूत होकर मर जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानीके सामने आयी हुई अज्ञानरूप मृत्यु भी नष्ट हो जाती है । जैसा कि ज्ञानमहोदधिमें भी कहा है—'ज्ञानरूप अधिष्ठानमें रहनेवाले, ज्ञानाग्निस्वरूप तथा ज्ञानरूप वज्र धारण करनेवाले जिस पुरुषके विषयमें 'इसने मृत्युको मार दिया है' ऐसा प्रसिद्ध हो, वही मत्सरशून्य वीर है' ॥ १६ ॥

ज्ञानीके कर्मत्यागमें धृतराष्ट्रकी शङ्का

एवं तावत् 'कर्मोदये' इत्यादिना कर्मणां बन्धहेतुत्वमुक्त्वा 'ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमभिहितम् । तत्र चोदयति धृतराष्ट्रः—

इस प्रकार यहाँतक 'कर्मोदये कर्मफलानुरागाः' इत्यादि श्लोकसे कर्मोंकी बन्धहेतुताका प्रतिपादन करके 'ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इस वाक्यसे ज्ञानको ही मोक्षका साधन बतलाया गया । अब इसमें राजा धृतराष्ट्र शङ्का करते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच—

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान् द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान् ।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा एतद्विद्वान्नैति कथं नु कर्म ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—श्रुतिने यज्ञके द्वारा द्विजोंको जिन पुण्यतम एवं नित्य लोकोंकी प्राप्ति बतलायी है, वेद उन्हींको परमपुरुषार्थ बतलाते हैं । ऐसा जानकर भी ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठान क्यों नहीं करता ? ॥ १७ ॥

ननु कथं कर्मणां बन्धहेतुत्वम् ? यावता यानेवाहुरिज्यया ज्योतिष्टोमादिना साधुलोकान् साधुभिर्धार्मिकैरारूढान् पुण्यतमान् पवित्रान् सनातनान् नित्यान् । तेषां ब्रह्मलोकपर्यन्तानां परार्थं परमपुरुषार्थत्वं कथयन्ति इह अस्मिन् संसारमण्डले वेदाः । एतद् लोकानां परमपुरुषार्थत्वं विद्वान् कथं नु साधनं कर्म नैति न गच्छति नानुतिष्ठतीत्यर्थः । अथवा, एतद् ब्रह्मलोकपर्यन्तानां लोकानां साधनभूतं कर्म विद्वान् ब्रह्मवित् कथं नैति नानुतिष्ठतीति ॥ १७ ॥

कर्मोंकी बन्धहेतुता कैसे मानी जाती है ? क्योंकि श्रुतिने ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके द्वारा जिन पुण्यतम—पवित्र एवं सनातन साधु लोकोंकी—साधु अर्थात् धार्मिक पुरुषों-द्वारा प्राप्त किये गये लोकोंकी—बात कही है, उन ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकोंका ही वेद यहाँ—इस संसारमण्डलमें परार्थ—परमपुरुषार्थत्व बतलाते हैं । यह इन लोकोंका परमपुरुषार्थत्व जानकर भी पुरुष उनकी प्राप्तिके साधनभूत कर्मोंका अनुष्ठान क्यों नहीं करता ? अथवा [यों समझो कि] विद्वान्—ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंकी प्राप्तिके साधनभूत इस कर्मके प्रति क्यों नहीं जाता [अर्थात् वह कर्मकी उपेक्षा क्यों करता है ?] ॥ १७ ॥

श्रीसनत्सुजातजीका उत्तर—ज्ञानीको कर्मानुष्ठानकी अपेक्षा नहीं

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र तथार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
स नेह आयाति परं परात्मा प्रयाति मार्गेण निहन्त्यमार्गान् ॥ १८ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—इस प्रकार तो अज्ञानी ही उन (कर्मों) के प्रति जाते हैं और उन्हींके लिये वेदोंने अनेकों प्रयोजन बतलाये हैं; किंतु वह (ब्रह्मवेत्ता) इनमें प्रवृत्त नहीं होता । वह तो परमात्मस्वरूप हुआ परमात्माको ही प्राप्त होता है तथा अपने [ज्ञान-] मार्गके द्वारा [कर्म-उपासनादि] अमार्गोंका बाध कर देता है ॥ १८ ॥

सत्यम्, एवमेव ब्रह्मलोकादिसाध्यं सुखं परमार्थं मन्यमानो विषयविषान्धो ह्यविद्वानुपयाति तत्र तस्मिन् ब्रह्मलोकादिसाधनभूते कर्मणि न विद्वान्, अविद्यादिदोषदर्शनात्। तथा च बृहदारण्यके—'अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः' इति॥

ठीक है, इस प्रकार ब्रह्मलोकादिसे प्राप्त होनेवाले [भोगों] को सुख माननेवाला विषयरूप विषसे अन्धा अज्ञानी पुरुष ही वहाँ—ब्रह्मलोकादिके साधनभूत उस कर्मके प्रति जाता है, विद्वान् नहीं जाता; क्योंकि वह उसमें अविद्यादि दोष देखता है; जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है—'वे घोर अन्धकारसे व्याप्त आनन्दशून्य लोक हैं, अविद्वान् और बोधहीन पुरुष मरनेके पश्चात् उन्हींमें जाते हैं।'

तथार्थजातं च प्रयोजनजातं च तस्यैवाविदुषो वदन्ति वेदाः। यस्मादविदुष एव वदन्ति न विदुषः, तस्मान्नेह स विद्वान् ब्रह्मलोकाद्यनित्यसुखे तत्साधने वा कर्मणि आयाति प्रवर्तते। किं तर्हि कुरुते? तत्राह—परमात्मानमात्मत्वेनावगम्य परात्मा सन् ब्रह्मैव सन् परं प्रयाति। मार्गेण निहन्ति अमार्गान् संसारहेतुभूतानात्मनो विरुद्धमार्गान् धर्माधर्मोपासनारूपान्।

तथा उस अविद्वान्के ही लिये वेद अर्थजात यानी प्रयोजनोंका निरूपण करते हैं। क्योंकि वे अविद्वान्के लिये ही उनका वर्णन करते हैं, विद्वान्के लिये नहीं; इसलिये वह विद्वान् इस ब्रह्मलोकादि अनित्य सुख अथवा उसके साधन कर्ममें नहीं आता अर्थात् कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता। तो फिर क्या करता है? सो बतलाते हैं—वह परमात्माको आत्मस्वरूपसे जानकर परात्मा यानी ब्रह्मरूपसे स्थित हुआ ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। तथा मार्गके द्वारा अमार्गों—आत्माके लिये संसारकी प्राप्तिके हेतुभूत धर्माधर्म एवं उपासनारूप विरुद्ध मार्गोंका बाध कर देता है।

अथवा, 'एवं हि विद्वानुपयाति तत्र' इति पाठे सगुणब्रह्मविद्वान् तत्र ब्रह्मलोकादावुपासनाफलमुपयाति प्राप्नोति। तथार्थजातं च अस्य वदन्ति वेदाः। कीदृशं वदन्ति? स विद्वान् इह अस्मिन् लोके कर्मीव नायाति न जायते, किंतु मार्गेण ब्रह्मोपासनया अमार्गान् विरुद्धमार्गान् निहन्ति। एवं तत्र गत्वा संसारहेतून् अमार्गान् निहत्य परात्मा ब्रह्मात्मा सन् कालेन परं ब्रह्म प्रयातीत्यर्थः॥ १८॥

अथवा यदि ऐसा पाठ माना जाय—'एवं हि विद्वानुपयाति तत्र' तो [इस प्रकार अर्थ होगा—] सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाला पुरुष वहाँ ब्रह्मलोकादिमें अपनी उपासनाका फल प्राप्त करता है। तथा उसके लिये वेद अर्थजातका वर्णन करते हैं। किस प्रकारके अर्थजातका वर्णन करते हैं?—वह इस लोकमें नहीं आता अर्थात् कर्मी पुरुषके समान वह विद्वान् इस लोकमें जन्म नहीं लेता, बल्कि ब्रह्मकी उपासनाके द्वारा वह अमार्ग यानी विरुद्ध मार्गोंको नष्ट कर देता है। इस प्रकार वहाँ जाकर वह संसारप्राप्तिके हेतुभूत अमार्गोंको नष्टकर परमात्मस्वरूपसे स्थित हुआ कालान्तरमें परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है॥ १८॥

ईश्वरके जगद्रचनामें प्रवृत्त होनेका प्रयोजन

एवं तावत्प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य मृत्युत्वमप्रमादस्य स्वरूपावस्थानलक्षणस्यामृतत्वम् 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इत्यादिना दर्शयित्वा 'आस्यादेष निःसरते नाराणाम्' इत्यादिना 'स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः' इत्यन्तेन तस्यैव कार्यात्मना परिणतस्य सर्वानर्थहेतुत्वं प्रदर्शयित्वा, कथमस्य मृत्योर्विनाशः ? इत्याशङ्क्य 'एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इत्यात्मज्ञानेन मृत्युविनाशं दर्शयित्वा 'यानेवाहुरिज्यया' इत्यादिना ब्रह्मलोकादेः पुरुषार्थत्वमाशङ्क्य 'एवं ह्यविद्वान्' इत्यादिना तेषामविद्यावद्विषयत्वेनापुरुषार्थत्वमुक्त्वा 'परं परात्मा प्रयाति मार्गेण' इति ज्ञानमार्गेण मोक्ष उपदिष्टः । तत्र 'परं परात्मा प्रयाति' इति जीवपरयोरेकत्वमुक्तम् । तदसहमानश्चोदयति धृतराष्ट्रः—

इस प्रकार 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इत्यादि वाक्यसे प्रमादसंज्ञक अज्ञानका मृत्युत्व और स्वरूपावस्थितिरूप अप्रमादका अमृतत्व दिखलाकर 'आस्यादेष निःसरते' इत्यादि वाक्यसे लेकर 'स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः' इस वाक्यतक कार्यरूपमें परिणत हुए उस मृत्युको ही समस्त अनर्थोंका हेतु बता फिर ऐसी आशङ्का करके कि उस मृत्युका विनाश किस प्रकार हो सकता है 'एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इस वाक्यद्वारा आत्मज्ञानसे मृत्युका नाश दिखाते हुए फिर 'यानेवाहुरिज्यया' इत्यादिसे ब्रह्मलोकादिके परमपुरुषार्थत्वकी आशङ्का कर 'एवं ह्यविद्वान्' इत्यादि वचनसे अज्ञानी-विषयक होनेसे उनका अपुरुषार्थत्व बतलाकर 'परं परात्मा प्रयाति मार्गेण' इस वाक्यसे ज्ञानमार्गद्वारा मोक्षका उपदेश किया गया । वहाँ 'परं परात्मा प्रयाति' ऐसा कहकर जीव और परमात्माका एकत्व कहा गया है । उसे सहन न कर सकनेके कारण राजा धृतराष्ट्र शङ्का करते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच—

> कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
> किं वास्य कार्यमथवासुखं च तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥ १९॥

धृतराष्ट्रने कहा—यदि क्रमशः वह परमात्मा ही यह सब हो गया है तो उस अजन्मा पुराणपुरुषको नियुक्त कौन करता है ? तथा [ऐसा करनेमें] उसका प्रयोजन क्या है और [ऐसा न करके अपने निष्क्रियस्वरूपमें ही स्थित रहनेमें] उसे दुःख किस बातका है ? हे विद्वन् ! यह सब आप मुझे ठीक-ठीक बतला दीजिये ॥ १९ ॥

ननु यदि स एव सत्यादिलक्षणः परमात्मा क्रमेणाकाशादिधरित्र्यन्तं सृष्ट्वा तदनुप्रविश्यान्नमयाद्यात्मना स्थितः संसरति चेत्, कोऽसौ तं सत्यादिलक्षणमजं पुराणं संसारे नियुङ्क्ते प्रेरयति । किमन्येन, स्वयमेवेति चेत्, किं वास्य नानायोनिषु प्रवर्तमानस्य कार्यं प्रयोजनम् ? अथवा नानायोनिष्वप्रवर्तमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वे महिम्नि

यदि आकाशसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त क्रमशः सम्पूर्ण जगत्की रचना कर वह सत्य-ज्ञानादिरूप परमात्मा ही उसमें अनुप्रविष्ट हो अन्नमयादि कोशके रूपमें स्थित हुआ जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त हो रहा है तो वह कौन है, जो इस सत्यादिरूप अजन्मा पुराणपुरुषको संसारमें नियुक्त—प्रेरित करता है ? क्या उसे कोई दूसरा प्रेरित करता है ? और यदि वह स्वयं ही इसमें प्रवृत्त होता है तो इन नाना योनियोंमें स्थित हुए उस परमात्माका प्रयोजन क्या है ? अथवा नाना योनियोंमें प्रवृत्त न होकर

स्थितस्य संसाराननुप्रवेशेऽसुखम् अनर्थजातं वा किं भवति ? हे विद्वन् ! मे ब्रूहि सर्वं यथावत् । तथा च ब्रह्मविदामेकः पुण्डरीको भगवान् याज्ञवल्क्यस्तत एव सर्वस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैव जीवात्मत्वमभ्युपगम्य—'यद्येवं स कथं ब्रह्मन् पापयोनिषु जायते । ईश्वरश्च कथं भावैरनिष्टैः सम्प्रयुज्यते' इति । 'कोऽसौ नियुङ्क्ते' इत्यनेन भगवतोक्तमेव ब्रह्मजीववादपक्षं वावदूकचोद्यं स्वयमेव स्पष्टमुक्तवान् ॥ १९ ॥

चुपचाप अपने स्वरूपमें स्थित रहकर संसारमें अनुप्रविष्ट न होनेपर उसे क्या दुःख—अनर्थ होता है ? हे विद्वन् ! यह सब मुझे आप ठीक-ठीक बतला दीजिये । तथा ब्रह्मवेत्ताओंमें एक कमलस्वरूप भगवान् याज्ञवल्क्यने भी सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति उसीसे बतलाकर उसीका जीवभाव भी स्वीकार कर 'यदि ऐसा है तो हे ब्रह्मन् ! वह पापयोनियोंमें कैसे उत्पन्न होता है ? और समर्थ होकर भी अनिष्ट भावोंसे कैसे युक्त होता है ?' ऐसा कहते हुए, 'कोऽसौ नियुङ्क्ते' इस वाक्यद्वारा जो श्रीमान्के कहे हुए ब्रह्म-जीववादपक्षमें वादीकी शङ्का है, उसका स्पष्ट ही उल्लेख किया है ॥ १९ ॥

जीवसृष्टि अनादि और मायिक है

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजात बोले—

सनत्सुजात उवाच—

> दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
> तथास्य नाधिक्यमपैति किंचिदनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ २० ॥

श्रीसनत्सुजातने कहा—ब्रह्ममें नानात्वका सम्बन्ध स्वीकार करनेमें तो बड़ा भारी दोष है । अनादि मायाके योगसे ही अनेकों अनादि जीव होते हैं । इस प्रकार इस ब्रह्मकी महिमामें भी कोई त्रुटि नहीं आती; क्योंकि अनादि मायाके योगसे ही उस परम पुरुषसे इनकी अभिव्यक्ति होती है ॥ २० ॥

यद्येवं चोदयत एषोऽभिप्रायः—नियोज्यनियोक्तृत्वादिभेददर्शनादेकस्य कूटस्थस्य तदसम्भवाद्भेदेन भवितव्यमिति । तत्र यदि ब्रह्मण एव नानात्वमभ्युपगम्यते चेत्—तदा तस्मिन् भेदयोगे ब्रह्मणो नानात्वयोगे दोषो महान् । को दोषः ? अद्वैतिनो ह्यतथावादिनोऽवैदिका भवेयुः, वेदहृदयं परमार्थमद्वैतं च बाध्यं स्यात् । किं च नानारूपेण परिणतत्वादनित्यादिदोषोऽस्थूलादिवाक्यविरोधश्च प्रसज्येत ।

यदि इस प्रकार शङ्का करनेवालेका यह अभिप्राय है कि नियोज्य-नियोजकत्वादि भेद देखा जाता है और एक कूटस्थमें ऐसा होना सम्भव नहीं है, इसलिये उसमें भेद होना चाहिये तो यदि ब्रह्मका ही नानात्व माना जाय तब तो इस विभेदयोग यानी ब्रह्मके नानात्वयोगमें बड़ा भारी दोष है । वह दोष क्या है ? इससे अद्वैतसिद्धान्तवाले तो मिथ्यावादी और अवैदिक सिद्ध होंगे तथा वेदका रहस्यभूत परमार्थ अद्वैत बाधित हो जायगा । इसके सिवा अनेकरूपसे परिणत हुआ होनेके कारण ब्रह्ममें अनित्यत्वादि दोष आ जायँगे और 'ब्रह्म अस्थूल है' इत्यादि वाक्योंसे विरोध उपस्थित होगा ।

अथोच्यते नास्माभिर्ब्रह्मणो नानात्वमभ्युपगम्यते, अपि तु जीवपरयोर्भेदोऽभ्युपगम्यत इति ।

और यदि यह कहा जाय कि हम ब्रह्मका नानात्व स्वीकार नहीं करते, अपितु जीव और ब्रह्मका ही भेद

अत्रापि महान् दोषः, यतो विनाशं प्राप्नोति । श्रूयते च—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति', 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति', 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः', 'अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति', 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इति ।

अथवा, जीवपरयोर्भेदेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म', 'य आत्मा सर्वान्तरः', 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः', 'अयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्', 'इदं सर्वं यदयमात्मा,' 'एष त आत्मा सर्वान्तरः', 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि', 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं वै ब्रह्मेति' इत्येवमादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणविरुद्धभाषितत्वादवैदिकत्वं नाम महान् दोषो भवति ।

कथं तर्हि त्वत्पक्षे जीवेश्वरादिव्यवहारभेदः ?

कथं वा तेषां नित्यत्वमिति ?

तत्राह—'अनादियोगेन भवन्ति नित्याः' इति । अनादिरविद्याख्या माया । तथा चोक्तं भगवता—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' इति । 'इयं हि साक्षाज्जगतो योनिरेका सर्वात्मिका सर्वनियामिका च । माहेश्वरी शक्तिरनादिसिद्धा व्योमाभिधाना दिवि राजतीव ।।' इति च ।

मानते हैं तो ऐसी अवस्थामें भी महान् दोष है, जिससे कि नाशकी प्राप्ति होती है । श्रुति भी कहती है—'जब कि यह (जीव) इस (ब्रह्म) में थोड़ा-सा भी भेद करता है, तब उसे भय प्राप्त होता है', 'जो इसमें नानावत् देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है' और 'जो किसी अन्य देवताको, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसी बुद्धि रखकर उपासना करता है, वह नहीं जानता, जैसे कि पशु ।' 'जो इससे भिन्न जानते हैं, वे अन्य स्वामीके अधीन होते हैं और क्षयशील लोकोंको प्राप्त होते हैं ।' 'जो सबको आत्मासे भिन्न जानता है, उसका सब तिरस्कार कर देते हैं' इत्यादि ।

तथा जीव और ब्रह्मका भेद माननेपर तो 'तू वह (ब्रह्म) है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'जो साक्षात् अपरोक्षरूपसे ब्रह्म है', 'जो सबका अन्तर्यामी आत्मा है', 'यह तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप आत्मा है', 'यह जो आत्मा है यही वह है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यही सब कुछ है', 'यह जो आत्मा है, यही सब कुछ है', 'यह तेरा आत्मा सबसे अन्तरतम है', 'हे भगवन् ! हे देव ! तुम ही मैं हूँ और मैं ही तुम हो' तथा 'वह यह महान् अजन्मा आत्मा जराशून्य, अमर और अभय है; अभय ही ब्रह्म है, अभय ही ब्रह्म है' इत्यादि ऐसे ही श्रुति-स्मृति, इतिहास एवं पुराणवाक्योंके विरुद्ध कहे जानेके कारण इसमें अवैदिकत्वरूप महान् दोष आता है ।

तो फिर तुम्हारे पक्षमें जीव-ईश्वर आदि व्यवहारका भेद किस प्रकार सिद्ध होगा ? और किस प्रकार उनकी नित्यता सिद्ध होगी ?

इसके उत्तरमें कहते हैं—'अनादिके योगसे ही अनादि होते हैं ।' 'अनादि' अविद्यासंज्ञक मायाका नाम है; जैसा कि भगवान्‌ने भी कहा है—'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही अनादि जानो ।' तथा ऐसा भी वाक्य है—'यह आकाश नामवाली अनादिसिद्धा श्रीमहेश्वरकी शक्ति ही, जो कि मानो दिव्यलोकमें विराजमान है, इस जगत्‌की साक्षात् योनि है तथा यह एक होते हुए भी सर्वमयी और सबकी नियामिका है ।',

तद्योगेन अनादिमायायोगेन भवन्ति जीवादयो नित्याः, अद्वितीयस्यापि परमात्मनो मायया बहुरूपत्वमुपपद्यत एवेत्यर्थः । श्रूयते च एकस्यैव बहुरूपत्वम्— 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति', 'एको देवो बहुधा निविष्टः', 'एकः सन् बहुधा विचारः', 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः', 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति ।

तथा च मोक्षधर्मे—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ इति ।

तथा च याज्ञवल्क्यः—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत् ।
तथात्मैकोऽप्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ इति ।

तथा च कावषेयगीतासु—

एकश्च सूर्यो बहुधा जलाधारेषु दृश्यते ।
आभाति परमात्मापि सर्वोपाधिषु संस्थितः ॥
ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम् ।
आकाशमिव कुम्भेषु बुद्धिगम्यो न चान्यथा ॥ इति ।

तथा चाह परमेश्वरः—

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः सन् भिद्यते शक्त्या मायया सर्वभावतः ॥ इति

यस्मादेकस्यैव मायया बहुरूपत्वं तस्मात्स एव कारणात्मा परमेश्वरः कार्यात्मानं जीवात्मानं नियुङ्क्ते कृतप्रयत्नापेक्षः सन् मायया, न परमार्थतः

उसके योगसे अर्थात् उस अनादि मायाके योगसे जीवादि भी नित्य हैं । तात्पर्य यह है कि अद्वितीय होनेपर भी मायावश परमात्माका अनेकरूप होना सम्भव है ही । 'वह रूप-रूपमें उनके अनुरूप हो गया है', 'मायासे इन्द्र अनेक रूपमें चेष्टा करता है', 'समस्त भूतोंमें एक ही देव छिपा हुआ है', 'एक होते हुए भी ब्राह्मण उसे अनेक प्रकारसे कहते हैं', 'एक होनेपर भी उसकी अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं', 'एक ही देवमें अनेक प्रकारका अभिनिवेश हो रहा है', 'एक होते हुए भी वह अनेक रूपसे चेष्टा करता है', 'तू एक ही बहुतोंमें अनुप्रविष्ट हो रहा है' तथा 'वह बिना उत्पन्न हुए ही अनेक रूपमें उत्पन्न होता है' इत्यादि मन्त्रोंसे भी एक ही आत्माका मायासे अनेक रूप होना सुना जाता है ।

ऐसा ही मोक्षधर्ममें भी कहा है—'प्राणी-प्राणीमें एक ही भूतात्मा स्थित है । जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान वही [बिम्बरूपसे] एक और [प्रतिबिम्बरूपसे] अनेक रूपोंमें दिखायी दे रहा है ।' तथा याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—'जिस प्रकार एक ही आकाश घटादिमें विभिन्न-सा हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा एक होनेपर भी जलके पात्रोंमें (प्रतिबिम्बित) सूर्यके समान अनेक प्रतीत हो रहा है ।' तथा कावषेयगीतामें कहा है—'सूर्य एक ही है, किंतु वह जलके पात्रोंमें अनेकवत् देखा जाता है । उसी प्रकार सम्पूर्ण उपाधियोंमें स्थित परमात्मा भी (अनेकवत्) प्रतीत होता है । ब्रह्म सम्पूर्ण शरीरोंके भीतर और बाहर भी स्थित है; किंतु वह घटोंमें स्थित आकाशके समान ही बुद्धिका विषय होता है, और किसी प्रकार नहीं ।' इसी तरह भगवान् परमेश्वरने भी कहा है—'आत्मा नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और सब प्रकारके दोषोंसे रहित है । वह एक होनेपर भी मायावश अपने सम्पूर्ण भावोंकी दृष्टिसे शक्तिमें विभिन्न है ।'

क्योंकि एक ही ब्रह्मकी मायावश अनेकरूपता सिद्ध होती है, इसलिये वह कारणस्वरूप परमेश्वर ही कार्यात्मा जीवको, उसके किये हुए प्रयत्नकी अपेक्षा रखकर, मायासे प्रेरित करता है । वह परमार्थतः न तो स्वयं

संसरति संसारयति वा। तथा चोक्तं कावषेयगीतासु—

न जायते न म्रियते न वध्यो न च घातकः ।

न बद्धो बन्धकारी वा न मुक्तो न च मोक्षदः ॥

पुरुषः परमात्मा तु यत्ततोऽन्यदसच्च तत् । इति।

तथा चाह भगवान् परमेश्वरः—

'अहं प्रशास्ता सर्वस्य मायातीतस्वभावतः ।'

'न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत्प्रभुः ॥' इति।

किं च, मायानिमित्ते भेदेऽभ्युपगम्यमानेऽस्य परमात्मनः कार्यकारणात्मना अवस्थितस्यापि आधिक्यं स्वरूपाधिक्यं नापैति किंचित् किंचिदपि, मायात्मकत्वात्संसारस्य पूर्ववत् कूटस्थ एव भवतीत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मादनादियोगेनानाद्यविद्यायोगेन भवन्ति पुंसः पुमांसो जीवा बहवो भवन्ति ।

अथवा, पुंसः पुरुषस्य पूर्णस्य परमात्मनो या माया अनादिसिद्धा तद्योगेन बहवो भवन्ति । तथा चैतत् सर्वमनुगीतासु स्पष्टमाह भगवान्—

अज्ञानगुणरूपेण तत्त्वरूपेण च स्थितम् ।

ममत्वे यदि संसारो नोच्छिद्येत कथंचन ॥

अविद्याशक्तिसम्पन्नः सर्वयोनिषु वर्तते ।

तत्त्याज्यं सर्वविदुषां मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥

तन्नाशेन महानात्मा राजते नात्र संशयः ।

अहंकारस्य विजये ह्यात्मा सिद्धो भविष्यति ॥

सिद्धे चात्मनि निर्दुःखी पूर्णबोधो भविष्यति ।

पूर्णबोधं परानन्दमनन्तं लोकभावनम् ॥

भजत्यव्यभिचारेण परमात्मानमच्युतम् ।

तद्भक्तस्तत्प्रसादेन ज्ञानानलसमन्वितः ॥

जन्म-मरणको प्राप्त होता है और न किसी दूसरेको ही जन्म-मरणकी प्राप्ति कराता है । ऐसा ही कावषेयगीतामें भी कहा है—'परम पुरुष परमात्मा तो न जन्म लेता है न मरता है, न मारा जाता है न मारनेवाला है, न बद्ध है न बाँधनेवाला है, न मुक्त है और न मुक्त करनेवाला है तथा जो कुछ उससे भिन्न है, वह असत् है ।' तथा भगवान् परमेश्वर कहते हैं—'मैं सबका शासक ही स्वभावतः मायातीत हूँ' और [यह भी कहा है कि] 'यह मायातीत प्रभु न तो स्वयं संसारको प्राप्त होता है और न किसी अन्यको प्राप्त कराता है ।'

तथा इस प्रकार मायाजनित भेद स्वीकार करनेपर तो कार्य-कारण-भावसे स्थित रहनेपर भी इस परमात्माका आधिक्य अर्थात् स्वरूपगत महत्त्व तनिक भी न्यून नहीं होता । तात्पर्य यह है कि संसार मायामय होनेके कारण यह पूर्ववत् कूटस्थ ही रहता है । क्योंकि ऐसा है, इसलिये अनादियोगसे अर्थात् अनादि अविद्याके योगसे पुरुष यानी जीव अनेक हो गये हैं ।

अथवा, 'पुंसः'—पूर्ण पुरुष यानी परमात्माकी जो अनादिसिद्धा माया है, उसके द्वारा अनेक [जीव] हो जाते हैं । इसी तरह भगवान्ने यही सब स्पष्टतया अनुगीतामें कहा है—'ममताके रहते हुए तो यह संसार चाहे अज्ञानके गुणरूपसे हो अथवा तत्त्वरूपसे, किसी भी प्रकार निवृत्त नहीं हो सकता । जीव अविद्या-शक्तिसे समन्वित होकर ही सम्पूर्ण योनियोंमें रहता है । अतः समस्त विद्वान् और सभी देहधारियोंको मोहमें डालनेवाली उस अविद्याको त्यागना चाहिये । उस (अविद्यामय) अहंकारका नाश हो जानेपर यह विभु आत्मा अत्यन्त शोभाको प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं । आत्माकी प्राप्ति अहंकारको जीत लेनेपर ही होगी तथा आत्माकी सिद्धि हो जानेपर पुरुष दुःखहीन और पूर्ण बोधवान् हो जायगा । जो पूर्ण बोधवान् है, वह परमानन्दस्वरूप, अनन्त एवं लोकोंकी रचना करनेवाले अविनाशी परमात्माको अविच्छिन्नरूपसे भजता है । भगवान्का भक्त उनकी कृपासे ज्ञानाग्निसम्पन्न हो सम्पूर्ण

अखिलं कर्म दग्ध्वान्यैर्विष्ण्वाख्यममृतं शुभम् ।

प्राप्नोति सर्वसिद्धार्थमिति वेदानुशासनम् ॥इति।

कर्मोंको दग्धकर अन्य सब प्रकारकी कामनाओंके सहित भगवान् विष्णुसंज्ञक शुभ अमृतको प्राप्त कर लेता है, जो सब प्रकारके पदार्थोंको प्राप्त करानेवाला है—ऐसी वेदकी आज्ञा है ।'

तथा हि भगवान् परमगुरुः पराशर आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वं दर्शयति—

इसी प्रकार परमगुरु भगवान् पराशरजी भी आत्मासे भिन्न और सब पदार्थोंका मिथ्यात्व प्रदर्शित करते हैं—

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः ।
तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥
ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे ॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥
ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसा-
वशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा-
ञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥
यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्व-
कर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम् ।
तदा हि संकल्पतरोः फलानि
भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः ॥
वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्य-
पर्यन्तहीनं सततैकरूपम् ।
यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो
न तत्तथा तस्य कुतो हि तत्त्वम् ॥
मही घटत्वं घटतः कपालिका
कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः ।
जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयै-
रालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु ॥
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित्
क्वचित्कदाचिद् द्विज वस्तुजातम् ।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेद-
विभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम् ॥

'वस्तुतः यह सब अत्यन्त निर्मल ज्ञानस्वरूप है, किंतु भ्रमपूर्ण दृष्टिके कारण वही विभिन्न पदार्थरूपसे स्थित है। इस ज्ञानस्वरूप सम्पूर्ण जगत्को बुद्धिहीन लोग पदार्थाकार देखकर मोहकी बाढ़में भटकते रहते हैं। किंतु हे परमेश्वर! जो लोग ज्ञानी और शुद्धचित्त हैं, वे सम्पूर्ण जगत्को ज्ञानमय एवं आपका स्वरूप ही देखते हैं । क्योंकि यह जगत् ज्ञानस्वरूप विश्वमूर्ति भगवान् ही है, वस्तुस्वरूप नहीं है, अतः तुम इन पर्वत, समुद्र एवं पृथिवी आदि विभिन्न पदार्थोंको विज्ञानका ही विलास समझो । जब सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जानेपर यह विशुद्ध आत्मस्वरूप जगत् निर्मल ज्ञानमात्र रह जाता है, उस समय संकल्परूप वृक्षके फलस्वरूप जो वस्तुओंमें उनके भेद हैं, वे नहीं रहते । जो आदि, मध्य एवं अन्तरहित तथा निरन्तर एकरूप है, ऐसी कौन वस्तु है और वह कहाँ है ? हे द्विज ! जो अन्यरूप हो जाती है और पुनः अपने पूर्वरूपको प्राप्त नहीं होती, उसका वस्तुत्व कहाँ है ? अपने कर्मोंके कारण जिनका आत्मनिश्चय दब गया है, उन पुरुषोंको पृथ्वी ही घटत्वको प्राप्त हुई दिखायी देती है और फिर घटसे कपालिका, कपालिकासे चूर्ण और उससे अणुरूप हुई जान पड़ती है; परंतु यह तो बताओ, इसमें परमार्थवस्तु क्या है ? (वास्तवमें तो एक मृत्तिकामात्र ही है ।) अतः हे द्विज ! विज्ञानसे अतिरिक्त कहीं किसी समय कोई वस्तुसमूह नहीं है । एक विज्ञान ही अपने कर्मभेदके कारण विभिन्न हुए चित्तोंद्वारा अनेकरूपताको प्राप्त हो रहा है ।

ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-
मशेषदोषादिनिरस्तसङ्गम् ।
एकं सदैकं परमः परेशः
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥
सद्भाव एष भवतो मयोक्तो
ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतत्तु यत्संव्यवहारभूत-
मत्रापि चोक्तं भुवनाश्रयं ते ॥

वह ज्ञान विशुद्ध, निर्मल, निःशोक, सम्पूर्ण दोषोंसे रहित, एक और सर्वदा एकरस है। वह परमोत्कृष्ट परमेश्वर वासुदेव है, जिससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। यह मैंने आपके प्रति सद्वस्तुका वर्णन किया कि एकमात्र विज्ञान ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है। यह जो सम्पूर्ण व्यवहारभूत त्रिभुवन-संस्थान है, उसका भी मैंने इसीमें वर्णन कर दिया।

परमार्थस्तु भूपाल संक्षेपाच्छ्रूयतां मम ।
एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः ॥
जन्मवृद्ध्यादिरहितो ह्यात्मा सर्वगतोऽव्ययः ।
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः ॥
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यति ।
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि तत् ॥
विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ।
तदेतदुपदिष्टं ते संक्षेपेण महामते ॥
परमार्थसारभूतं यत्तदद्वैतमशेषतः ।
सितनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः ॥
भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि तथैकः सन् पृथक्कृतः ।

'अब हे नृप! जो परमार्थ है, उसका मुझसे संक्षेपमें श्रवण करो। जो एक, व्यापक, समस्वरूप, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृतिसे परे और जन्म-वृद्धि आदिसे रहित है, वह सर्वगत अविनाशी आत्मा उत्कृष्ट ज्ञानमय है। उस विभुका नाम एवं जाति आदि असद्वस्तुओंसे न तो योग है, न योग हुआ था और न होगा ही। वह अपने और अन्य सबके शरीरोंमें रहते हुए भी एकरूप ही है। यही वास्तविक विज्ञान है, द्वैतवादी तो मिथ्या दृष्टिवाले हैं। हे महामते! उस इस आत्माका तेरे प्रति संक्षेपसे उपदेश किया गया। जो परमार्थका सारभूत है, वह सर्वथा अद्वैत ही है। जिस प्रकार एक ही आकाश श्वेत एवं नीलादि भेदसे अनेक प्रकारका दिखायी देता है, उसी प्रकार भ्रान्त दृष्टि-वाले पुरुषोंने एक होनेपर भी आत्माको अनेकरूप कर रखा है। यहाँ जो कुछ भी है, वह सब एक अच्युत ही है। उससे भिन्न और कुछ नहीं है। वही मैं हूँ, वही तुम हो और यह सब भी वह आत्मस्वरूप ही है; तुम भेदरूप मोहको छोड़ दो।'

एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित्
तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ॥

इतीरितस्तेन स राजवर्य-
स्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ।
स चापि जातिस्मरणाप्तबोध-
स्तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप ॥

'उनके इस प्रकार कहनेपर उस नृपश्रेष्ठने परमार्थदृष्टि-से सम्पन्न हो भेदबुद्धिको छोड़ दिया तथा उसने भी पूर्व-जन्मकी स्मृतिके द्वारा बोध प्राप्तकर उसी जन्ममें मोक्ष प्राप्त कर लिया।'

ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-
र्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं
यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ॥

'नक्षत्रगण विष्णु हैं, भुवन विष्णु हैं, वन विष्णु हैं तथा पर्वत, दिशा, नदी एवं समुद्र भी विष्णु हैं। हे द्विजवर! जो कुछ है और जो नहीं है, वह सब वही

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत् ।
द्रष्टव्यमात्मनस्तस्मादभेदेन विचक्षणैः ॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥
तद्भावभावमापन्नस्तदासौ परमात्मना ।
भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥
ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते ।
ज्ञानात्मकमिदं सर्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ॥
विद्याविद्ये च मैत्रेय ज्ञानमेवोपधारय ॥ इति।

तथा चैतत्सर्वं स्पष्टमाह भगवान् सनत्सुजातो ब्रह्माण्डपुराणे कावषेयगीताप्रसङ्गे—

वेदान्पठध्वं विधिवद्व्रतानि
कृत्वा विवाहं च मखैर्यजध्वम् ।
उत्पाद्य पुत्रान् वयसो विरामे
देहं त्यजध्वं नियतास्तपोभिः ॥ इति ।
किमद्य नश्चाध्ययनेन कार्यं
किमर्थवन्तश्च मखैर्यजामः ।
प्राणं हि वाप्यनले जोहवीमः
प्राणानले जोहवीमीति वाचम् ॥ इति ।

कृतकृत्यत्वेन यज्ञाद्यनुष्ठानेनात्मनः प्रयोजनाभावं दर्शयित्वा 'स्वर्गात्तु वेश्यागृहसंनिवेशात्पुण्यक्षयान्ते पतनं स्यादवश्यम् । मनुष्यलोके विजरा विदुःखम्·······' इति यज्ञादिसाध्यस्य लोकस्यानित्यत्वादिदोषदुष्टत्वेन हेयत्वं दर्शयित्वा यजुर्वेदोपनिषदि 'सत्यं परं परम्' इत्यारभ्य सत्यादीनां माहात्म्यं दर्शयित्वा 'न्यासः' इत्यारभ्य 'तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि न्यास एवात्यरेचयत्' इत्यन्तेन नित्यसिद्धनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तिसाधनस्य तत्साधनत्वेनापरादनित्यफलसाधनाद्यज्ञादेः सर्वस्मादुत्कृष्टत्वं संन्यासस्योक्तं तत्रैव श्रूयते—

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।

(विष्णु ही) है । यह सम्पूर्ण संसार सर्वस्वरूप विष्णुका ही विस्तार है । अतः बुद्धिमानोंको इसे अपनेसे अभिन्नरूपसे देखना चाहिये । भेदजनक अज्ञानके सर्वथा नष्ट हो जानेपर फिर आत्मा और ब्रह्मका मिथ्या भेद कौन करेगा ? तब यह परमात्माके साथ परमात्मभावसे भावापन्न हो अभिन्न हो जाता है । इसका भेद तो अज्ञानजनित ही है । ज्ञान ही परब्रह्म है और ज्ञान ही बन्धनका कारण माना जाता है । यह सब ज्ञानमय है, ज्ञानसे भिन्न और कुछ भी नहीं है । हे मैत्रेय ! ज्ञान और अज्ञानको भी तुम ज्ञानस्वरूप ही जानो ।'

तथा ये ही सब बातें ब्रह्माण्डपुराणमें कावषेयगीताके प्रसंगमें भगवान् सनत्सुजातने स्पष्ट ही कही हैं—'वेदाध्ययन करो, फिर विधिपूर्वक व्रताचरण करते हुए विवाह करके यज्ञानुष्ठान करो । तत्पश्चात् पुत्र उत्पन्न कर आयुकी समाप्ति होनेपर तप आदिमें नियुक्त हुए देहत्याग करो ।' तथा एक यजुर्वेदीय उपनिषद्में 'अब हमें अध्ययनसे क्या काम है ? हम किस प्रयोजनसे यज्ञानुष्ठान करें ? तथा किसलिये प्राणको अग्निमें और प्राणाग्निमें वायुको हवन करें ?' इस वाक्यसे कही हैं । तथा कृतकृत्य हो जानेके कारण यज्ञानुष्ठानसे अपना कोई प्रयोजन न दिखाकर फिर 'जो वेश्याके घरके समान है, उस स्वर्गलोकसे तो पुण्योंका क्षय होनेपर अवश्य ही पतन होगा'········इस प्रकार अनित्यत्वादि दोषोंसे दूषित होनेके कारण यज्ञादिसाध्य लोकोंका हेयत्व दिखाया है । फिर 'सत्यं परं परम्' इस वाक्यसे लेकर सत्यादिका माहात्म्य दिखाते हुए 'न्यासः' से आरम्भ करके 'तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि न्यास एवात्यरेचयत्' इस वाक्यतक नित्यसिद्ध एवं निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्तिके साधनभूत संन्यासका यज्ञादिसे, जो उसके साधनस्वरूप और अन्य अनित्य फलोंके साधन हैं, श्रेष्ठत्व दिखाया है । वहीं ऐसी भी श्रुति है—'किन्हीं-किन्हींने कर्मसे, संततिसे अथवा धनसे नहीं, त्यागसे ही

परेण नाकं निहितं गुहायां
विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृतात्परि मुच्यन्ति सर्वे ॥इति।

अमृतत्व प्राप्त किया है। वह परमोत्कृष्ट स्वर्गीय पद बुद्धिरूप गुहामें छिपा विराजता है, जिसमें कि यतिजन प्रवेश करते हैं। जिन्होंने वेदान्तसम्बन्धी विशिष्ट ज्ञानके द्वारा वस्तुका सम्यक् प्रकारसे निश्चय कर लिया है तथा जो यतिजन संन्यासयोगसे शुद्धचित्त हो गये हैं, वे सब कल्पका अन्त होनेपर ब्रह्मलोकमें उस परामृतको पाकर सब प्रकार मुक्त हो जाते हैं।'

तथा च बृहदारण्यके सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति—'एतं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' इति।

इसी प्रकार बृहदारण्यकमें भी सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग दिखलाते हैं—'उस इस आत्माको जानकर ब्रह्मवेत्ता-लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे उठकर फिर भिक्षाटन करते हैं।'

तथा च भगवान् वासुदेवः सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥इति।

इसी तरह भगवान् वसुदेवनन्दनने भी समस्त कर्मोंका त्याग ही दिखलाया है—'जो सब प्रकारकी कामनाओंसे रहित, संयतचित्त और सब प्रकारके संचयको छोड़नेवाला है, वह पुरुष केवल देहयात्रार्थ कर्म करता हुआ दोषग्रस्त नहीं होता। मेरा जो भक्त सब प्रकारकी अपेक्षाओंसे रहित, पवित्र, कुशल, उदासीन, संतापशून्य और सब प्रकारके आरम्भका त्याग करनेवाला है, वह मुझे प्रिय है। जो न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न किसी प्रकारकी इच्छा करता है तथा सब प्रकारके शुभ और अशुभ कर्मोंका त्याग करनेवाला एवं मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। जो मान और अपमानमें समान रहता है, शत्रु और मित्र दोनों पक्षोंमें तुल्य है तथा सब प्रकारके आरम्भोंका त्याग करनेवाला है, वह गुणातीत कहा जाता है। जिसकी बुद्धि सब जगह अनासक्त है तथा जो जितेन्द्रिय और निःस्पृह है, वह पुरुष संन्यासके द्वारा उत्कृष्ट नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। सब धर्मोंको त्यागकर तू एकमात्र मेरे शरण हो जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक न कर।' इत्यादि।

तथा चानुगीतासु कर्मणि प्रयोजनाभावं दर्शयति भगवान्—

नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी।
यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ॥इति।

इसी प्रकार अनुगीतामें भी भगवान् [आत्मनिष्ठके लिये] कर्ममें प्रयोजनका अभाव दिखलाते हैं—'जो एक आसनमें कुछ भी चिन्तन न करता हुआ चुपचाप आत्मामें लीन हो गया है, वह न धर्मवान् है न अधर्मवान् तथा न शुभकर्म करनेवाला है न अशुभ कर्म करनेवाला।' तथा यह

प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।

तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥ इति ।

भी कहा है—'योग प्रवृत्तिरूप है और ज्ञान निवृत्तिरूप । अतः ज्ञान हो जानेपर बुद्धिमान्को इस लोकमें संन्यास (समत्वका त्याग) कर देना चाहिये ।'

तथा च शान्तिपर्वणि शुकं प्रत्युपदिष्टवान् भगवान् व्यासः—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥
एषा वै विहिता वृत्तिः पुरस्ताद्ब्रह्मणा स्वयम् ।
एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः ॥
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ।
तद्भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा ॥ इति ।

तथा शान्तिपर्वमें भगवान् व्यासने शुकदेवजीके प्रति इस प्रकार उपदेश किया है—'जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है । इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते । पूर्वकालमें स्वयं ब्रह्माजीने ही इस वृत्तिका विधान किया है । पूर्वतन सत्पुरुष महर्षियोंने भी इसका अनुष्ठान किया है कि जो सर्वोत्तम पारिव्राज्यरूप उत्कृष्ट स्थान है, उसके प्रति गमन करे । अतः तुम इसी प्रकार अभ्यास करके इसीमें स्थित हो जाओ और (वेदान्त) श्रवण करो ।'

तथा च सर्वकर्मसंन्यासं दर्शयति भगवान् नारदः—

संन्यस्य सर्वकर्माणि संन्यस्य विपुलं तपः ।
संन्यस्य विविधा विद्याः सर्वं संन्यस्य चैव हि ॥
शक्यं त्वेकेन मुक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः ।
पिण्डमात्रमुपाश्रित्य चरितुं सर्वतोदिशम् ॥
हित्वा गुणमयं पाशं कर्म हित्वा शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः ॥
परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः ।
अशोकस्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥ इति ।

तथा भगवान् नारद भी समस्त कर्मोंका संन्यास ही प्रदर्शित करते हैं—'सम्पूर्ण कर्मोंको त्यागकर, महान् तपस्याको भी त्यागकर, विविध प्रकारकी विद्याओंको त्यागकर तथा और सबको भी त्यागकर सब प्रकार मुक्त और कृतकृत्य हुए पुरुषको केवल शरीरमात्रका आश्रय ले, गुणकृत बन्धनको काट, शुभाशुभ कर्मोंसे मुक्त हो तथा सत्य और मिथ्या दोनोंहीको त्यागकर सब दिशाओंमें अकेले ही विचरना चाहिये । इस प्रकार वह निर्गुण हो जाता है । हे तात ! परिग्रह छोड़कर तू जितेन्द्रिय हो तथा इस लोक और परलोकमें शोकहीन एवं भयशून्य स्थानपर स्थित हो जा ।'

तथा च सर्वकर्मसंन्यासिन एव ज्ञानेऽधिकारः, नेतरस्येत्याह भगवान् बृहस्पतिः—

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतः सुखी ।

रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानमाप्नुयात् ॥

तथा 'विषयोंमें फैली हुई इन्द्रियोंके कारण मनुष्य दुखी होता है और संयत हो जानेपर उन्हींसे वह सुखी होता है । रागी पुरुष प्रकृतिकी ओर प्रवृत्त होता है और विरक्त ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।' इस वाक्यद्वारा भगवान् बृहस्पतिने भी यही कहा है कि सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग करनेवालेका ही ज्ञानमें अधिकार है, अन्य किसीका नहीं ।

तथा चाश्वमेधिके ब्रह्मणा सम्यगुक्तं मुनीन् प्रति सर्वाश्रमिणां सर्वकर्मसंन्यासेऽधिकार इति—

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ वा पुनः ।

इसी प्रकार आश्वमेधिकपर्वमें ब्रह्माजीने भी मुनियोंके प्रति सभी आश्रमवालोंका सर्वकर्म-संन्यासमें अधिकार बतलाया है—'गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो अथवा वानप्रस्थ

य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥
एतत्तु ब्राह्मणं वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ।
एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः ॥इति

यस्मादेवं तस्माद्विदुषो मुमुक्षोश्च सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारः ॥ २० ॥

हो, जो मोक्षपदपर स्थित होना चाहता हो, उसे भिक्षाटनरूप उत्तम वृत्तिका आश्रय लेना चाहिये। इसीको ब्रह्मवेत्ताओंका आचार कहा है, यही ऐकान्तिक सुख है, यही विरक्तोंकी गति है और यही सनातन धर्म है।'

क्योंकि ऐसा है, इसलिये ज्ञानी और मोक्षकामीका सर्वकर्मसंन्यासमें ही अधिकार है ॥ २० ॥

एवं तावदेकस्यैव परमात्मनोऽनादिमायायोगेन बहुरूपत्वमुक्तम् । इदानीं यदीश्वरस्य जगत्कारणत्वं तदपि मायोपाधिकमित्याह—

इस प्रकार यहाँतक तो अनादि मायाके योगसे एक ही परमात्माकी अनेकरूपताका वर्णन किया गया। अब यह बतलाते हैं कि ईश्वरका जो जगत्कारणत्व है, वह भी मायारूप उपाधिके ही कारण है—

य एतद्वा भगवान् स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्ये तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥ २१ ॥

ये जो परमार्थभूत भगवान्[1] हैं, विकारके योगसे ही सर्वदा जगत्‌की उत्पत्ति करते हैं तथा उस परमात्माकी शक्ति (माया) ही यह सब व्यापार करती है—ऐसा मैं मानता हूँ। उसकी सत्तामें वेद प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

य एतद्वा परमार्थभूतो भगवान् ऐश्वर्यादिसमन्वितः परमेश्वरो नित्यः स विकारयोगेन ईक्षणादिपूर्वकं विश्वं करोतीति तथा तत्सर्वं तच्छक्तिर्देवात्मशक्तिर्मायैव करोति न परमात्मा अपूर्वादिलक्षण इति स्म मन्ये । न स्वतश्चित्सदानन्दाद्वितीयस्य कारणत्वम्, किंतु मायावेशवशादित्यर्थः ।

ये जो परमार्थभूत ऐश्वर्यादिसमन्वित भगवान् हैं, वे नित्य परमेश्वर ही विकारके योगसे अर्थात् ईक्षणादिपूर्वक जगत्‌की रचना करते हैं। तथा इस प्रकार उनकी शक्ति अर्थात् उस परमात्माकी शक्ति माया ही यह सब करती है, अपूर्व-अनपरादिरूप परमात्मा कुछ नहीं करता—ऐसा मैं मानता हूँ। तात्पर्य यह है कि उस सच्चिदानन्दाद्वितीय परमात्माका जगत्कारणत्व स्वतः नहीं है, बल्कि मायाका सम्पर्क होनेके कारण है।

किं तर्ह्यस्य तथाभूतशक्तियोगे प्रमाणमिति चेत्, तत्राह—तथार्थयोगे । तस्य परमात्मनो जगदुपादानभूतमायार्थयोगे च भवन्ति वेदाः । तस्य माया-

तो फिर इस प्रकारकी इस शक्तिका योग होनेमें प्रमाण क्या है ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—उसकी अर्थवत्तामें अर्थात् जगत्‌की उपादानभूता परमात्माकी उस मायाके अस्तित्वमें वेद प्रमाण हैं। तात्पर्य यह है

---

१. यहाँ 'आदि' पदसे ऐश्वर्यके सिवा धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये पाँच गुण समझने चाहिये; क्योंकि इन छः गुणोंकी पूर्णताको ही 'भग' कहते हैं; यथा—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥
और जिनमें पूर्ण भग है, वे ही भगवान् कहे जाते हैं।

सद्भावे वेदाः प्रमाणं भवन्तीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते,' 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्,' 'मायिनं तु महेश्वरम्,' 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति । तथा चाह भगवान् वासुदेवः—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।'
'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥'
'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।'इति॥

तथा च—

माया तवेयमज्ञातपदार्थानतिमोहिनी ।
अनात्मन्यात्मविज्ञानं यया मूढोऽधिरोहति ॥
इयमस्य जगद्धातुर्माया कृष्णस्य गह्वरी ।
धार्यधारकभावेन यया सम्पीडितं जगत् ॥
अहो स दुस्तरा विष्णोर्मायेयमतिगह्वरी ।
यया मोहितचित्तस्तु न वेत्ति परमेश्वरम् ॥इति२१॥

कि उस मायाकी सत्तामें वेद प्रमाण हैं; जैसा कि श्रुति कहती है—'मायासे इन्द्र (ईश्वर) अनेक रूप होकर चेष्टा करता है,' 'इससे मायी परमात्मा इस जगत्की रचना करता है,' 'मायीको महेश्वर मानो,' 'अपने गुणोंसे छिपी हुई भगवान्की अपनी शक्तिको' इत्यादि । इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—'मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी दुस्तर है,' 'मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण भूतोंका स्वामी होकर भी अपनी प्रकृतिका आश्रय ले अपनी मायासे ही जन्म लेता हूँ,' 'मुझ साक्षीके द्वारा प्रकृति चराचरको उत्पन्न करती है' इत्यादि । तथा ऐसा भी कहा है—'जिसके स्वरूपका ज्ञान नहीं है ऐसी आपकी यह माया अत्यन्त मोहमें डालनेवाली है, जिसके द्वारा मोहित हुआ पुरुष अनात्मामें आत्म-बुद्धि कर बैठता है । यह इस जगद्विधाता भगवान् श्रीकृष्णकी रहस्यमयी माया ही है, जिसके कारण संसार आश्रित और आश्रयभावको प्राप्त होकर पीडित हो रहा है । अहो ! भगवान् श्रीकृष्णकी यह माया अत्यन्त रहस्यमयी एवं दुस्तर है, जिससे मोहित-चित्त हुआ प्राणी परमात्माको नहीं जानता' ॥२१॥

धर्म और अधर्ममें कौन किसका घातक है ?

एवं तावत् 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इत्यादिना मृत्योः स्वरूपं तस्य कार्यात्मनावस्थानं तन्निमित्तं चानेकानर्थं दर्शयित्वा केन तद्ध्वस्य विनाश इत्याशङ्क्य 'एवं मृत्युं जायमानम्' इत्यादिना आत्मज्ञानादेवाभयप्राप्तिं दर्शितां श्रुत्वा प्रासङ्गिके चोद्यद्वये परिहृते, कर्मस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—

इस प्रकार यहाँतक 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इत्यादि वाक्यसे मृत्युका स्वरूप बतलाकर फिर उसकी कार्यरूपसे स्थिति और उससे होनेवाले बहुत-से अनर्थ दिखलाये गये । उसमें 'तो फिर इसका नाश किससे होगा' ऐसी आशङ्का कर 'एवं मृत्युम्' (इस प्रकार मृत्युको उत्पन्न होनेवाली समझकर ज्ञानस्वरूपसे स्थित हुआ मृत्युसे नहीं डरता) इत्यादि वाक्यद्वारा आत्मज्ञानसे ही दिखलायी हुई अभयप्राप्तिके विषयमें सुननेके पश्चात् प्रसङ्गतः प्राप्त दो शङ्काओंके निराकृत हो जानेपर कर्मका स्वरूप जाननेके लिये धृतराष्ट्रने कहा—

धृतराष्ट्र उवाच—

यस्माद्धर्मानाचरन्तीह केचित् तथाधर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते वा उताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥२२॥

धृतराष्ट्र बोले—क्योंकि इस लोकमें कोई तो धर्मका आचरण करते हैं और कोई अधर्मका ? ऐसी अवस्थामें पापके द्वारा धर्मका पराजय होता है अथवा धर्म ही पापको पराजित कर देता है ? ॥ २२ ॥

यस्माद् धर्मान् अग्निहोत्रादीन् आचरन्ति इह लोके केचित् तथा अधर्मान् इह आचरन्ति । किं तेषां धर्मः पापेन प्रतिहन्यते ? उताहो स्विद् धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ? अथवा तुल्यबलेनान्यतरेणान्यस्य विनाशः ? इति ॥ २२ ॥

क्योंकि इस लोकमें कोई तो अग्निहोत्रादि धर्मोंका आचरण करते हैं और कोई पापाचरण करते हैं ? तो क्या उनका धर्म पापसे पराजित हो जाता है अथवा धर्म ही पापको पराजित कर देता है ? अथवा समान बलवाले होनेसे किसी भी एकसे दूसरेका पराभव हो जाता है ॥ २२ ॥

अज्ञानीको दोनोंका फल भोगना होता है; किंतु ज्ञानाग्निसे दोनों नष्ट हो जाते हैं

अविदुष उभयोरनुभव एव नान्यतरेणान्यतरस्य विनाशः । विदुषः पुनरुभयोरपि ज्ञानाग्निना विनाश इत्युत्तरमाह—

इसका ऐसा उत्तर देते हैं कि अज्ञानीको तो इन दोनोंका केवल अनुभव ही है, किसी भी एकसे दूसरेका नाश नहीं होता; किंतु विद्वान्‌के इन दोनोंहीका ज्ञानाग्निसे नाश हो जाता है—

सनत्सुजात उवाच—

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।
यथान्यथा पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २३ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—ज्ञानी पुरुष उन पाप-पुण्योंमें स्थित रहनेपर भी* ज्ञानके द्वारा नियमानुसार उन दोनोंका नाश करता रहता है—यह प्रसिद्ध है । इससे विपरीत अवस्थामें [अर्थात् ज्ञान न होनेपर] तो जिस प्रकार देहधारी जीव [पुण्य होनेपर] पुण्यको प्राप्त होता है, उसी प्रकार पाप होनेपर पापको प्राप्त होता है—यह भी प्रसिद्ध ही है ॥ २३ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

तस्मिन् पुण्यापुण्यात्मके कर्मणि स्थितोऽपि कुर्वन्नपि उभयं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म नित्यं नियमेन विद्वान् ज्ञानेन प्रतिहन्ति विनाशयति । कथमेतदवगम्यते ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति ? तत्राह—सिद्धं प्रसिद्धं ह्येतच्छ्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु । तथा च श्रुतिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिः'

विद्वान् पुरुष उस धर्माधर्मरूप कर्ममें स्थित रहनेपर भी अर्थात् धर्माधर्मरूप दोनों प्रकारका कर्म करते रहनेपर भी ज्ञानके द्वारा नित्य-नियमानुसार उसका नाश कर देता है । किंतु यह कैसे जाना जाता है कि विद्वान् ज्ञानके द्वारा उनका नाश कर देता है ? इसपर कहते हैं—यह बात सिद्ध है अर्थात् श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें प्रसिद्ध है । जैसा कि श्रुति कहती है—'इसके हृदय-

* ज्ञानीसे वस्तुतः पाप-पुण्य होते ही नहीं; उसमें न कामना होती है, न आसक्ति और न अहंकार । उसके शरीरसे प्रारब्धवश चेष्टामात्र होती है । अन्य लोग अपनी अच्छी-बुरी दृष्टिके अनुसार उसमें पाप-पुण्यकी कल्पना करते हैं ।

इत्यादि । 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति, 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' इति, 'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति । 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' इति । 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति ।

की ग्रन्थि टूट जाती है', 'जिस प्रकार कमलके पत्तेमें जलका संसर्ग नहीं होता, इसी प्रकार ऐसा जाननेवालेमें पाप-कर्मका संसर्ग नहीं होता,' 'जिस प्रकार अग्निमें प्रवेश करानेसे सींकका रुआँ जल जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञानीके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं,' 'इस प्रकार ज्ञानी पुरुष पाप-पुण्य दोनोंको झाड़कर निर्मल हो उत्कृष्ट समताको प्राप्त हो जाता है,' 'घोड़ा जिस प्रकार बालों-को झड़काता है, उसी प्रकार पापोंको झाड़कर' इत्यादि। तथा 'हे अर्जुन ! जिस प्रकार बढ़ा हुआ अग्नि ईंधनको जला देता है [उसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है]' ।

अथान्यथा ज्ञानविहीनश्चेत् पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति तत्फलं चोपभुङ्क्ते । कथमेतदवगम्यत इति चेत्, तत्राह—सिद्धं प्रसिद्धं ह्येतदपि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु । तथा च श्रुतिः—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेन भूत्वेमं
लोकं हीनतरं वा विशन्ति' ॥ इति ।

'अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' ॥
इति । तथैव वासुदेवः—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥इति॥२३॥

इससे विपरीत यदि वह ज्ञानहीन होता है तो वह देहधारी जीव (पुण्य होनेपर) पुण्य प्राप्त करता है तथा पाप होनेपर पापको प्राप्त होता है और उसका फल भी भोगता है । यदि कहो कि ऐसा कैसे जाना जाता है ? तो इसपर कहते हैं—यह सिद्ध है अर्थात् यह बात भी श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें प्रसिद्ध है । जैसा कि श्रुति कहती है—'अत्यन्त मूढ पुरुष इष्ट और पूर्तादिको ही सर्वश्रेष्ठ समझकर किसी और श्रेष्ठ कर्मके विषयमें कुछ नहीं जानते । वे अपने शुभ कर्मसे स्वर्ग-लोकमें रहकर फिर इसी लोकमें अथवा इससे भी निकृष्ट-तर लोकमें प्रवेश करते हैं।' 'वे आनन्दशून्य लोक घोर अन्धकारसे व्याप्त हैं; जो आत्मघाती* लोग होते हैं, वे मरनेपर उन्हींमें जाते हैं।' इत्यादि। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—'त्रयीधर्ममें स्थित हुए सोमपान करनेवाले पापहीन पुरुष मेरा यज्ञोंसे पूजन कर स्वर्गीय गतिके लिये प्रार्थना करते हैं । और वे उस महान् स्वर्गलोकके भोगोंको भोगकर पुण्यका क्षय होनेपर फिर मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं' ॥ २३ ॥

---

* 'आत्मघाती' शब्दसे अनात्मज्ञ समझना चाहिये । अनात्मज्ञ पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले लोक अज्ञानजनित होनेके कारण चित्प्रकाशस्वरूप परब्रह्मकी अपेक्षासे आनन्दशून्य और अन्धकारपूर्ण बताये गये हैं । पापप्रवण लोगोंको प्राप्त होनेवाले नरकादिकी अपेक्षा तो पुण्योपार्जित स्वर्गादि उत्कृष्ट ही हैं । इसलिये इस कथनसे इष्टापूर्त कर्मोंकी हेयता बतानी अभीष्ट नहीं है, केवल आत्मज्ञानीकी उत्कृष्टता ही बतलायी गयी है ।

किमविदुषोऽनुभव एवोभयोः, उतान्यतरेणान्यतरस्य विनाश इति, तत्राह—

अज्ञानीको इन दोनोंका केवल अनुभव ही है अथवा इनमेंसे किसी एकके द्वारा दूसरेका नाश हो जाता है? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

गत्वोभयं कर्मणा भुज्यतेऽस्थिरं शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा ।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो बलीयानिति तस्य विद्धि ॥ २४ ॥

वह अपने कर्मके द्वारा परलोकमें जाकर उस पुण्य और पापरूप दोनों प्रकारके कर्मका अस्थिर (नाशवान्) फल भोगता है; किंतु जो ज्ञानवान् है, वह इस लोकमें पुण्यके द्वारा पापकर्मका नाश कर देता है; उसका धर्म बलवान् होता है—ऐसा तुम जानो ॥ २४ ॥

गत्वा परलोकं प्राप्य उभयं पुण्यापुण्यसाध्यं फलम्, पुण्यापुण्यलक्षणेन कर्मणा भुज्यतेऽस्थिरम् ।

श्रूयते च बृहदारण्यके—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति' इति । 'अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' । इति च छान्दोग्ये ।

वह (अज्ञानी) परलोकमें जाकर अपने पाप-पुण्यरूप कर्मके द्वारा उस पाप-पुण्यजनित दोनों प्रकारका अस्थिर फल भोगता है, जैसा कि 'हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षरब्रह्मको न जानकर इस लोकमें हवन करता है' इत्यादि वाक्यद्वारा बृहदारण्यकमें सुना जाता है तथा छान्दोग्यमें कहा है कि 'जो इससे भिन्न प्रकारसे जानते हैं, वे दूसरेके आधिपत्यमें रहते हैं, वे क्षयशील लोकोंको प्राप्त होते हैं ।'

स चापि सोऽपि विद्वान् धर्मेण कर्मणा पापं प्रणुदति विनाशयति इह लोके विद्वान् वक्ष्यमाणलक्षणो विनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन् । तथा च वक्ष्यति—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चा-
त्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥
ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-
नथान्यथा स्वर्गफलानुकाङ्क्षी ।
अस्मिन् कृतं तत्परिगृह्य सर्व-
ममुत्रभुङ्क्ते पुनरेति मार्गम् ॥
इति ।

येषां धर्मे च विस्पर्धा न तद्विज्ञानसाधनम् ।
येषां धर्मे न च स्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ॥इति।

तथा वह विद्वान् भी, जो कि आगे कहे जानेवाले लक्षणोंवाला तथा कर्मका विनियोग जाननेवाला है, भगवान्के लिये कर्म करता हुआ इस लोकमें धर्ममय कर्मके द्वारा पापको नष्ट कर देता है । ऐसा ही आगे कहेंगे भी—'उसके लिये ही ये तप और यज्ञ कहे गये हैं; इनके द्वारा यह विद्वान् पुण्य प्राप्त करता है और फिर पुण्यके द्वारा पापका नाश कर वह ज्ञानालोकसे प्रकाशित हो जाता है । विद्वान् ज्ञानके द्वारा आत्माको प्राप्त कर लेता है । अन्यथा वह स्वर्गफलका इच्छुक होकर इस लोकमें किये हुए समस्त कर्मोंको लेकर परलोकमें उनका फल भोगता है और फिर संसार-मार्गमें ही पतित हो जाता है ।' तथा 'जिनकी धर्ममें स्पर्धा (होड़) होती है, उनका धर्मानुष्ठान ज्ञानका साधन नहीं होता; किंतु जिनकी धर्ममें स्पर्धा नहीं होती, उनके लिये वह ज्ञानका साधन हो जाता है' इत्यादि ।

यश्चैवं विनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठति तस्य विदुषो धर्मः पापाद् बलीयान् इति विद्धि विजानीहि । तस्य पुनः केवलकर्मिणो न बलीयान्; तस्योभयोरनुभव एव नान्यतरेणान्यतरस्य विनाशः ॥ २४ ॥

इस प्रकार जो कर्मका विनियोग जाननेवाला पुरुष ईश्वरके लिये कर्म करता है, उस ज्ञानीका धर्म उसके पापकी अपेक्षा बलवान् होता है—ऐसा तू जान; किंतु जो केवल कर्मी है, उसका धर्म बलवान् नहीं होता । उसे दोनोंहीका अनुभव होता है, किसी एकके द्वारा दूसरेका नाश नहीं होता ॥ २४ ॥

अधिकारिभेदसे धर्मकी स्वर्गादिसाधनता तथा ज्ञानसाधनता

केषां तर्हि स्वर्गादिसाधनम्? केषां वा चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनम्? इति, तत्राह श्लोकद्वयेन—

तो फिर, धर्म किनके लिये स्वर्गादिकी प्राप्तिका साधन है और किनके लिये चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानका साधन है? ऐसा प्रश्न होनेपर इन दो श्लोकोंसे उत्तर दिया जाता है—

येषां धर्मेषु विस्पर्धा बले बलवतामिव ।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य स्वर्गे यान्ति प्रकाशताम् ॥ २५ ॥

बलवानोंकी जिस प्रकार बलमें स्पर्धा (होड़) रहती है, उसी प्रकार जिनकी धर्ममें स्पर्धा है, वे द्विजगण [मरनेके पश्चात्] इस लोकसे जाकर स्वर्गमें प्रकाशको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

येषां विषयपराणां स्वर्गादावुर्वश्यादिभोगश्रवणात् तत्साधनभूतज्योतिष्टोमादिधर्मेषु विस्पर्धा संघर्षो वर्तते—अस्मादहमुत्कृष्टतरं धर्मं कृत्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति । बले बलवतामिव, यथा बलवतो राज्ञो बलवन्तं राजानं दृष्ट्वा अहमस्मादपि बलवत्तां सम्पाद्यैनं जित्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति संघर्षो वर्तते तद्वत् । ते फलसङ्गसहिता ब्राह्मणा यज्ञादिकारिण इतः प्रेत्य धूमादिमार्गेण गत्वा स्वर्गे नक्षत्रादिरूपेण यान्ति प्राप्नुवन्ति प्रकाशतां प्रकाशम् । श्रूयते च—'अथ य इमे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति' इत्यारभ्य 'एष सोमो राजा

जिन विषयपरायण पुरुषोंको, स्वर्गादिमें रहनेसे उर्वशी आदि भोगोंकी प्राप्ति होगी—ऐसा सुनकर उनके साधनभूत ज्योतिष्टोमादि कर्मोंमें 'मैं इससे श्रेष्ठतर कर्म करके इससे भी अधिक सुखी हो जाऊँ'—ऐसी विस्पर्धा—संघर्ष (होड़) रहती है, जैसी कि बलवानोंकी बलमें अर्थात् जिस प्रकार किसी बलवान् राजाकी दूसरे बलसम्पन्न राजाको देखकर उसके प्रति 'मैं इससे भी अधिक शक्ति-सम्पादन कर इसे जीतकर इससे भी अधिक सुखी हो जाऊँ' ऐसी होड़ रहती है, उसी प्रकार [जिन्हें धर्मानुष्ठानमें होड़ रहती है] वे कर्मफलकी आसक्तिसे युक्त ब्राह्मण—यज्ञाधिकारी लोग इस लोकमें मरकर धूमादि मार्गसे चलते हुए स्वर्गलोकमें पहुँचकर नक्षत्रादिरूपसे प्रकाशत्व प्राप्त करते हैं। और ऐसा ही 'जो ये (कर्मकाण्डी) इसकी इष्ट, पूर्त और दानरूपसे उपासना करते हैं, वे धूममार्गको प्राप्त होते हैं' यहाँसे लेकर 'यह प्रकाशमान सोम है, वह

तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति यावत्सम्पात-मुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति ॥ २५ ॥

देवताओंका अन्न है, उसे देवगण भक्षण करते हैं, वहाँ वे कर्मक्षयपर्यन्त रहकर पुनः इसी मार्गमें लौट आते हैं' यहाँतक श्रुति भी कहती है ॥ २५ ॥

येषां धर्मे न च स्पर्द्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥ २६ ॥

और जिनकी धर्ममें स्पर्धा नहीं है, उनके लिये वह ज्ञानका साधन है । वे ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) लोग इस लोकसे मुक्त होकर त्रिविष्टप नामक स्वर्गको जाते हैं ॥ २६ ॥

येषां विषयानाकृष्टचेतसामनित्यफलसाधन-ज्योतिष्टोमादौ धर्मे न च स्पर्धा संघर्षो न वर्तते तेषां फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्मानुष्ठानवतां तद् यज्ञादिकं कर्म चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनम् । वक्ष्यति च भगवान् स्वयमेव शुद्धिद्वारेणैव ज्ञानसाधनत्वम्—'पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा' इति । ये यज्ञादिभिर्विशुद्धसत्त्वाः परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्ति, ते ब्राह्मणा इतोऽस्मात्कार्यकारणलक्षणाल्लोकात्प्रेत्य मुक्ताः स्वर्गं सुखं पूर्णानन्दं ब्रह्म यान्ति । इतरतः स्वर्गादस्य वैलक्षण्यमाह—त्रिविष्टपमिति । त्रिभिराध्यात्मिकादितापैः सत्त्वादिभिर्जाग्रदादिभिर्वा विमुक्तं स्वरूपाविष्टं पातीति त्रिविष्टपम् । अथवा, तैर्विष्टमधिकारिणं पातीति त्रिविष्टपम् इति ॥ २६ ॥

विषयोंद्वारा जिनका चित्त आकर्षित नहीं है ऐसे जिन पुरुषोंको अनित्य फलके साधनभूत ज्योतिष्टोमादि धर्मोंमें स्पर्धा—संघर्ष नहीं है, उन कर्मफलकी अपेक्षासे रहित ईश्वरार्थ कर्म करनेवालोंका वह यज्ञादि कर्म चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानका साधन होता है । भगवान् (सनत्कुमार) स्वयं ही 'फिर वह पुण्यके द्वारा पापका पराभव कर ज्ञानसे देदीप्यमान हो जाता है' इस वाक्यसे चित्तशुद्धिके द्वारा ही उसके ज्ञानसाधनत्वका वर्णन करेंगे । इस प्रकार जो लोग यज्ञादिद्वारा शुद्धचित्त होकर परमात्माको अपने आत्मस्वरूपसे जान लेते हैं, वे ब्राह्मणलोग इस कार्य-कारणरूप[1] लोकसे जाकर मुक्त हो स्वर्ग-सुखस्वरूप पूर्णानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं । त्रिविष्टपम्—ऐसा कहकर दूसरे स्वर्गसे उसकी विलक्षणता बतलायी है । त्रि—आध्यात्मिकादि तीन तापों, सत्त्वादि तीन गुणों अथवा जाग्रदादि तीन अवस्थाओंसे रहित स्वरूपावस्थित पुरुषका जो पालन करता है, उसे 'त्रिविष्टप' कहते हैं । अथवा जो इनसे युक्त अधिकारीकी रक्षा करता है, वह 'त्रिविष्टप' है ॥ २६ ॥

ज्ञानीका आचरण

इदानीं विदुषः समाचारमाह—

अब विद्वान्का आचरण बतलाते हैं—

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः ।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥ २७ ॥

१. स्थूल-सूक्ष्म शरीरसे मुक्त होकर ।

वेदवेत्ता लोगोंने उसके वास्तविक आचरणका [इस प्रकार वर्णन] किया है—इसके भीतरी (कुटुम्बी) और बाहरी दोनों ही प्रकारके लोग इसका अधिक ध्यान नहीं रखते ॥ २७ ॥

तस्य विरक्तस्य विदुषः सम्यक् समाचारं वेदविदो जना विद्वांस आहुः । नैनं योगिनं मन्येत चिन्तयेद् भूयिष्ठं बहु बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् । पुत्रमित्रकलत्राद्याभ्यन्तरम्, इतरद् बाह्यम् । यथा पुत्रमित्रादयो न गृह्णन्ति तथा तेषामगोचर एव वर्तेत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

उस विरक्त विद्वान् पुरुषके वास्तविक आचरणका वेदवेत्तालोग [इस प्रकार] वर्णन करते हैं—इस योगीको इसके बाह्य और आन्तरिक लोग अधिक नहीं मानते अर्थात् वे इसका विशेष विचार नहीं रखते । पुत्र, मित्र एवं स्त्री आदि आन्तरिक हैं तथा शेष सब बाह्य हैं । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उसे पुत्र-मित्रादि ग्रहण न कर सकें वैसा व्यवहार करता हुआ वह उनसे छिपा ही रहता है ॥ २७ ॥

कीदृशे देशेऽस्य वास इत्याह—

उसका निवास कैसे स्थानमें होना चाहिये ? सो बतलाते हैं—

यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोदकम् ।
अन्नपानं च विप्रेन्द्रस्तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ २८ ॥

वर्षा ऋतुमें घास और जलके समान जहाँ उसे अन्न-जलकी अधिकता जान पड़े, ब्रह्मवेत्ताको चाहिये कि उसी स्थानमें जीवन-निर्वाह करे । अन्न-जलका कष्ट सहन न करे ॥ २८ ॥

यत्र यस्मिन् देशे मृगचोरादिपीडारहिते अन्नपानादि भूयिष्ठं बहुलं वर्तते इति मन्येत प्रावृषीव तृणोदकं बहुलं भवति तद्वत् । तृणोलपमिति केचित्—'तृणोलप इति ख्यातो मुनिभोज्यौदनादिषु' इति वदन्ति । दूर्वाविशेष इति केचित् । तत्र स्थित्वा तदन्नपानादिकमुपजीवेत् । नानुसंज्वरेत् संतप्तो न भवेत् । अन्यथा अन्नपानादिरहिते देशे कथं नाम देहयात्रा सिद्ध्येदिति संतप्तो भवेत्, ततश्च न योगसिद्धिः ॥ २८ ॥

जहाँ अर्थात् मृग और चोरादिके उपद्रवसे रहित जिस देशमें, जिस प्रकार वर्षाकालमें घास और जलकी अधिकता होती है उसी प्रकार अन्न-पानादिकी बहुलता है—ऐसा जान पड़े, वहाँ रहकर उस अन्न-जलके आश्रय जीवन-निर्वाह करे । 'मुनियोंके भोज्य एवं पानादिके अर्थमें 'तृणोलप' शब्दका प्रयोग होता है' इस कोषके अनुसार यहाँ कोई-कोई 'तृणोदकम्' के स्थानमें 'तृणोलपम्' ऐसा पाठ बतलाते हैं । उस तृणोलपको कोई दूर्वाविशेष कहते हैं । अनुसंज्वरित अर्थात् संतप्त न हो । यदि ऐसे स्थानमें न रहेगा तो अन्न-पानादि-रहित देशमें रहनेसे 'किस प्रकार देहयात्रा होगी' ऐसा संताप होगा और उससे योगसिद्धि नहीं हो सकेगी ॥ २८ ॥

तत्राप्येवंविधजनसमीपे वास इत्याह—

वहाँ भी उसका ऐसे लोगोंके पास रहना अच्छा है—

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥ २९ ॥

जहाँ चुपचाप रहते हुए लोग उसका अमङ्गल और अपमानादि करें तथा इसके विपरीत (उसका सत्कार एवं पूजनादि) न करें । उस महात्माके लिये ऐसा जनसमूह ही कल्याणकारक है, इससे भिन्न प्रकारका नहीं ॥ २९ ॥

यत्र यस्मिन् देशेऽकथयमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वमाहात्म्यं प्रच्छादयतो येन केनचिदाच्छन्नस्य येन केनचिदाशितस्य यत्र क्वचनशायिन आत्मानमेव लोकं पश्यतो जडमूकबालपिशाचादिवत्संचरतः परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् अशिवमकल्याणमवमानादिकं प्रयच्छति तथा अतिरिक्तमिवाकुर्वन्—यथा कश्चित् स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञो ब्रह्मविदिति ज्ञात्वा प्रणिपातनमस्कारादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या पूजयति तद्वदज्ञाततया अतिरिक्तं ब्राह्मणजातिमात्रप्रयुक्तपूजातिरिक्तं पूजान्तरं ब्रह्मविदनुरूपमकुर्वन्नवमानादिकमेव कुर्वन् यो जनः सोऽस्य विदुषः श्रेयान् । नेतरो यः प्रणिपातादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या सम्पूजयति । तथा चाह भगवान् मनुः—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

इति । तथा चाह भगवान् पराशरः—

सम्मानना परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः ।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥

इति ॥२९॥

जिस-तिसके द्वारा वस्त्रकी व्यवस्था किये जाते हुए, जिस-तिसके द्वारा भोजन कराये जाते हुए तथा अपने विषयमें कुछ भी न कहते हुए मौन रहकर अपनी महिमाको छिपानेवाले, जहाँ-तहाँ सो रहनेवाले, केवल आत्मलोकका ही दर्शन करनेवाले तथा जड, मूक, बालक और पिशाचादिकी भाँति विचरनेवाले उस परमहंस-परिव्राजकाचार्यको जहाँ—जिस देशमें लोग अशिव—अकल्याण या भय—अपमानादि प्रदान करें तथा इसके विपरीत न करें अर्थात् जिस प्रकार कोई स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको जाननेवाला पुरुष 'यह ब्रह्मवेत्ता है' ऐसा जानकर प्रणाम एवं नमस्कारादिपूर्वक उसकी ईश्वर-बुद्धिसे पूजा करता है, उसीके समान अज्ञानवश जो लोग ब्राह्मण-जातिके योग्य सत्कार करनेके सिवा ब्रह्मवेत्ताके अनुरूप अन्य प्रकारकी पूजा नहीं करते, वे ही इस विद्वान्के लिये उपयोगी हैं । जो लोग प्रणामादि करते हुए इसकी ईश्वर-बुद्धिसे पूजा करते हैं, वे इसके लिये उपयुक्त नहीं हैं । ऐसा ही भगवान् मनुने भी कहा है—'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषकी भाँति दूर रहे और सदा ही अपमानकी अमृतके समान इच्छा करता रहे ।' तथा भगवान् पराशरजी भी कहते हैं—'क्योंकि सम्मान योगश्रीकी अत्यन्त हानि करता है और जनताद्वारा अपमानित योगी योगमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है' ॥ २९ ॥

कीदृशस्य तर्ह्यन्नं भोज्यमित्याह—

तो फिर इसके लिये कैसे पुरुषका अन्न भोज्य है, सो बतलाते हैं—

यो वाकथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत् ।
ब्रह्मस्वं नोपहन्याद् वा तदन्नं सम्मतं सताम् ॥३० ॥

जो पुरुष मौन रहनेवाले [इस महात्मा] के अन्तःकरणको संतप्त न करता हो तथा इसकी ब्रह्मनिष्ठाके साधनोंका बाधक न हो, सत्पुरुषोंको इसके लिये उसका अन्न अभिमत है ॥ ३० ॥

यो वा अकथयमानस्य तूष्णींभूतस्य सर्वोपसंहारं कृत्वा पूर्णानन्दात्मना अवस्थितस्य आत्मानं नानुसंज्वरेत्—न तापयेत्, ब्रह्मस्वं नोपहन्याद्वा—ब्रह्मनिष्ठासाधनभूतं चैलाजिनकुशपुस्तकादिकं नोपहन्याद्वा । तथा चोक्तम्—

रत्नहेमादिकं नास्य योगिनः स्वं प्रचक्षते ।
कुशवल्कलचैलाद्यं ब्रह्मस्वं योगिनो विदुः ॥

इति अन्यदपि ब्रह्मस्वं ब्राह्मणस्वं नोपहन्याद्वा—तदन्नं तस्यान्नं सम्मतं सतां भोज्यत्वेन ॥३०॥

जो पुरुष अकथयमान—मौन रहनेवाले अर्थात् समस्त इन्द्रियोंका निग्रह कर पूर्णानन्दस्वरूपसे स्थित हुए इस महात्माके अन्तःकरणको अनुसंज्वरित—संतप्त न करे तथा इसके ब्रह्मस्वका बाधक न हो अर्थात् ब्रह्मनिष्ठाके साधनभूत इसके चीरवस्त्र, मृगचर्म, कुशासन एवं पुस्तकादिको नष्ट करनेवाला न हो । इस विषयमें ऐसा कहा भी है कि 'रत्न और सुवर्णादि—ये इस योगीकी सम्पत्ति नहीं हैं । योगीके ब्रह्मस्व (ब्रह्मज्ञानरूप धन) तो कुश, वल्कल एवं चीरवस्त्रादि ही माने गये हैं ।' तथा इनके अतिरिक्त जो इसके अन्य ब्रह्मस्व —ब्राह्मणानुरूप सम्पत्तिका भी नाश नहीं करता, उसीका अन्न साधु पुरुषोंके भोज्यरूपसे माना गया है ॥ ३० ॥

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

फिर भी उसीके आचरणका वर्णन करते हैं—

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये नैव विन्देत किंचन ॥ ३१ ॥

ब्रह्मवेत्ताका ऐसा विचार रहना चाहिये कि बन्धु-बान्धवोंके बीचमें रहनेपर भी मेरी चर्या (व्यवहार) नियमसे अज्ञात रहनी चाहिये । वह [देहादि] किसीको भी [अपना स्वरूप] न माने ॥ ३१ ॥

नित्यं नियमेन अज्ञातचर्या गूढचर्या मे मम कर्तव्येति मन्येत ब्राह्मणो ब्रह्मवित् । ज्ञातीनां पुत्रमित्रकलत्रादीनां मध्ये संनिधौ वसन् नैव विन्देत प्रतिपद्येत किंचन किंचिदपि ।

कश्चनेति केचित् । पुत्रमित्रकलत्रादिकं परित्यज्य केवलं स्वात्मनिष्ठो गूढचर्यो भवेदित्यर्थः ।

तथा च श्रुतिः—

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः ॥

तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

मुझे नित्य—नियमसे अज्ञातचर्या—गूढरूपसे आचरण करना ही उचित है—ऐसा ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ताको विचार रखना चाहिये । वह ज्ञाति अर्थात् पुत्र-मित्र एवं स्त्री आदिके मध्यमें अर्थात् उनकी संनिधिमें रहता हुआ भी किसी वस्तुको [अपनी] न माने ।

यहाँ कोई-कोई ['किञ्चन' के स्थानमें] 'कश्चन' ऐसा पाठ बतलाते हैं [अर्थात् किसीको अपना न माने ।] तात्पर्य यह है कि पुत्र, मित्र और स्त्री आदि सबको छोड़कर केवल आत्मनिष्ठ हो गूढ़रूपसे आचरण करे । ऐसी ही श्रुति भी है—'मुनिको चाहिये कि कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री, सम्पूर्ण वेदाङ्ग तथा यज्ञ और यज्ञोपवीत—इन सबको त्यागकर प्रच्छन्नरूपसे विचरे ।' तथा भगवान् वसिष्ठजी भी कहते हैं—

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

इति । ईदृशस्यैव ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिलक्षणो मोक्षो नान्यस्य, विक्षेपबाहुल्यादिति भावः ।

'जो कोई न साधुको न असाधुको, न विद्वान्को न अविद्वान्को और न सदाचारीको या दुराचारीको ही जानता है, वह ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) है। बुद्धिमान् पुरुषको सब कुछ जानते हुए भी लोकमें जडवत् आचरण करना चाहिये ।' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि ऐसे पुरुषको ही ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्तिरूप मोक्ष मिल सकता है, विक्षेपकी अधिकताके कारण दूसरेको नहीं मिल सकता ।

अथवा, 'नित्यमज्ञातचर्या मे अज्ञाते चक्षुराद्यविषयभूते वाचामगोचरेऽनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थितेऽशनायाद्यसंस्पृष्टे पूर्णानन्दस्वरूपे सर्वान्तरे प्रत्यग्भूते ब्रह्मणि चर्या निष्ठा समाधिलक्षणा मे मम कर्तव्या, न पराग्भूतदेहेन्द्रियपुत्रमित्रकलत्रादौ स्थूलोऽहं कृशोऽहं गच्छामि तिष्ठामि क्लीबः काणः मूको बधिरोऽमुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं भार्या मे पुत्रो मे विभवो मे स्निग्धबन्धुसुहृदः—इत्येवमात्मिका कर्तव्या' इति मन्येत ब्राह्मणो ब्रह्मवित् । तथा च श्रुतिः—'यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति, तदेव ब्रह्म' इति ।

अथवा ['नित्यमज्ञातचर्या मे' इस वाक्यका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि] 'जो अज्ञात अर्थात् नेत्रादिका अविषय, वाणीका अगोचर, उदय और अस्तसे रहित, केवल ज्ञानस्वरूपसे स्थित, क्षुधा-पिपासादिसे असंस्पृष्ट, पूर्णानन्दस्वरूप, सर्वान्तर और सबका अन्तरात्मस्वरूप है, उस ब्रह्ममें ही मुझे चर्या—समाधिरूप निष्ठा करनी चाहिये; मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, जाता हूँ, बैठता हूँ, नपुंसक हूँ, काना हूँ, गूँगा हूँ, बहिरा हूँ, उसका पुत्र हूँ, इसका नाती हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, मेरे स्त्री है, मेरे पुत्र है, मेरे वैभव है, मेरे प्रिय बन्धु-बान्धव हैं—इस प्रकार देह, इन्द्रिय, पुत्र, मित्र एवं स्त्री आदि बाह्य पदार्थोंमें निष्ठा नहीं करनी चाहिये'—ऐसा ब्राह्मण यानी ब्रह्मवेत्ताको विचार रखना उचित है। 'जिसे कोई प्रेमसे नहीं देखता, बल्कि जिससे नेत्रोंको देखता है, वही ब्रह्म है' यह श्रुति भी ऐसा ही बतलाती है ।

यस्मादेवमज्ञात एव ब्रह्मणि निष्ठा कर्तव्या तस्माद् ज्ञातीनाम्—

क्रोधमानादयो दोषा विषयाश्चेन्द्रियाणि च ।
एत एव समाख्याता ज्ञातयो देहिनस्तव ॥

इतीन्द्रियादीनां ज्ञातिशब्देनोक्तत्वादिन्द्रियादीनां मध्ये वसन् पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् गच्छन् अश्नन् मन्यमानो विजानन्नपि नैवमात्मानं प्रमात्रादिरूपेण विन्देत प्रतिपद्येत, तत्साक्षित्वादात्मनः । तथा च श्रुतिः—'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' इति । देहद्वयतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार क्योंकि अज्ञात ब्रह्ममें ही निष्ठा करनी चाहिये, इसलिये ज्ञातियोंके 'क्रोध एवं मानादि दोष, विषय एवं इन्द्रियाँ—ये ही तुझ देहधारीके ज्ञाति कहे गये हैं' इस प्रकार 'ज्ञाति' शब्दसे इन्द्रियादि ही कहे गये हैं; अतः ज्ञातियोंके—इन्द्रियादिके मध्यमें रहते हुए अर्थात् देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, चलते, भोजन करते, विचार करते और विशेषरूपसे जानते हुए भी आत्माको ऐसा अर्थात् प्रमातादिरूप न जाने, क्योंकि आत्मा तो इन सबका साक्षी है। 'और जो यह जानता है कि मैं सूँघता हूँ, वह आत्मा है' यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है। अतः तात्पर्य यह है कि [स्थूल-सूक्ष्म] दोनों प्रकारके शरीर और उनके धर्मोंको आत्मस्वरूपसे ग्रहण न करे ॥ ३१ ॥

आत्माकी दुर्बोधता

कस्मात् पुनरेवं न गृह्यत इत्याह—

किंतु आत्मा इस प्रकार अनुभव क्यों नहीं होता ? सो बतलाते हैं—

को ह्येवमन्तरात्मानं ब्राह्मणो मन्तुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् ॥ ३२ ॥

जो अलिङ्ग, अविचल, शुद्ध और सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, ऐसे उस अन्तरात्माको कौन ब्रह्मवेत्ता इस प्रकार [विषयरूपसे] जान सकता है ? ॥ ३२ ॥

को हि निर्लिङ्गं स्थूलसूक्ष्मवर्जितम् अचलं क्रियाकर्त्रादिशून्यं शुद्धम् अविद्यादिदोषरहितं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् अशनायापिपासाशोकमोहजरा-मृत्युशीतोष्णसुखदुःखादिधर्मविवर्जितम् अन्तरा-त्मानं सर्वान्तरं प्रमात्रादिसाक्षिणमात्मानं मानावि-षयभूतम् एवम् उक्तेन प्रकारेण देहद्वयतद्धर्मतया 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं गच्छामि पश्यामि मूको बधिरः काणः सुख्यहं दुःख्यहम्' इति ब्राह्मणः सन् मन्तुम-र्हति । तथा सति ब्राह्मणत्वमेव हीयेत इत्यर्थः । वक्ष्यति च—'य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया' इति ॥ ३२ ॥

जो निर्लिङ्ग—स्थूल-सूक्ष्म-भेदसे रहित, अचल—कर्ता-क्रिया आदिसे शून्य, शुद्ध—अविद्यादि दोषोंसे रहित, सर्वद्वन्द्वविवर्जित—क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु, शीत-उष्ण एवं सुख-दुःखादि धर्मोंसे रहित है, उस अन्तरात्मा अर्थात् प्रमातादिके साक्षी, प्रमाणके अविषय, सर्वान्तर्भूत आत्माको ऐसा कौन है, जो ब्राह्मण (ब्रह्मवित्) होकर इस प्रकार यानी उपर्युक्तरूपसे 'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, चलता हूँ, देखता हूँ, गूँगा हूँ, बहिरा हूँ, काना हूँ, सुखी हूँ, दुखी हूँ' इस तरह स्थूल-सूक्ष्म देह और उनके धर्मरूपसे जान सके । तात्पर्य यह है कि ऐसा होनेपर तो उसका ब्राह्मणत्व ही नष्ट हो जायगा । ऐसा ही 'जो सत्यसे च्युत नहीं होता, उसीको तुम्हें ब्राह्मण जानना चाहिये' इस वाक्यसे आगे कहेंगे भी ॥ ३२ ॥

अनात्मज्ञकी निन्दा

यस्त्वेवं मनुते स पापीयानित्याह—

अब यह कहते हैं कि जो [आत्माको] ऐसा मानता है, वह तो बड़ा पापी है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ ३३ ॥

जो अन्य प्रकारका होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका समझता है, आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन पाप नहीं किया ? ॥ ३३ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानं ज्ञानात्मना निर्लिङ्गममलं शुद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना सन्तं स्वमात्मानम्, अन्यथा देहद्वयतद्धर्मात्मतया

जो आत्माको अन्य प्रकारका होते हुए अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूपसे अलिङ्ग, निर्मल, शुद्ध, सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित तथा सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूप होते हुए उसे अन्य प्रकार अर्थात् [स्थूल-सूक्ष्म] देहद्वय

'कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी स्थूलोऽहं कृशोऽहं अमुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहम्' इत्येवमात्मना प्रतिपद्यते किं तेन मूर्खेणानात्मविदा आत्मचोरेणात्मायहारिणा न कृतं पापम्। महापातकादि सर्वं तेनैव कृतमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

अक्षुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

इति। तथा चोक्तम्—

ब्राह्मण्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन् मूको वा बधिरो भवेत्।
नापक्रामति संसारात् स खलु ब्रह्मघातकः॥

इति। तस्माद्विषयभूतदेहेन्द्रियादिष्वात्मभावं परित्यज्य अज्ञात एव वागाद्यगोचरे परमात्मनि निष्ठा कर्तव्येत्यर्थः॥ ३३॥

और उनके धर्मरूपसे 'मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी या दुखी हूँ, मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, उसका पुत्र हूँ, इसका नाती हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ' इत्यादि प्रकारसे जानता है, उस आत्मचोर, आत्माका अपहरण करनेवाले मूर्ख अनात्मज्ञके द्वारा कौन पाप नहीं किया गया? अर्थात् उससे तो सारे ही महापातकादि हो गये। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'घोर अन्धकारसे आच्छादित वे आसुरी लोक हैं; जो आत्मघाती लोग हैं, वे मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं।' तथा स्मृति कहती है—'ब्रह्मपदको प्राप्त कर उसे इस लोकमें गूँगे और बहरेके समान हो जाना चाहिये। जो इस संसारसे ऊपर नहीं उठता, वह निश्चय ही ब्रह्मघाती है।' अतः तात्पर्य यह है कि विषयभूत देह एवं इन्द्रियादिमें आत्मभाव त्याग कर वागादि इन्द्रियोंके अविषय अज्ञात परमात्मामें ही निष्ठा करनी चाहिये॥ ३३॥

आत्मज्ञका व्यवहार

अन्यथा देहेन्द्रियतद्धर्माननुपाददतः किं भवतीत्यत आह—

इसके विपरीत जो देह, इन्द्रिय और उनके धर्मोंको अपनेमें ग्रहण नहीं करता, उसे क्या होता है—सो अब बतलाते हैं—

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥ ३४॥

अपनेमें अनात्मधर्मोंको ग्रहण न करनेवाला पुरुष श्रमहीन और निरुपद्रव हो जाय तथा विद्वानोंद्वारा भद्र पुरुष समझे जानेपर भी वह ब्रह्मवेत्ता क्रान्तदर्शी ब्राह्मण भद्र पुरुषोंका-सा आचरण न करे॥ ३४॥

योऽनादाता अनात्मभूतदेहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन नोपादत्ते स पुरुषोऽश्रान्तः स्यात्—संसारश्रमयुक्तो न भवेत्, अशनायादेर्देहादिधर्मत्वात्। तथा च श्रुतिः—'अशनायापिपासे प्राणस्य शोकमोहौ मनसो जरामरणे शरीरस्य' इति। देहद्वयाध्यासे हि तद्धर्माध्यासो भवति। एवमश्रान्ततया निरुपद्रवो भवति। क्रोधहर्षलोभमोहादयोऽन्तराया उपद्रवाः, तद्धीनो निरुपद्रवः, स सम्मतः शिष्टत्वेन विद्वद्भिः

जो अनादाता है अर्थात् अनात्मभूत देह, इन्द्रिय और उनके धर्मोंको आत्मभावसे ग्रहण नहीं करता, वह पुरुष श्रमहीन हो जाय—संसाररूप श्रमसे युक्त न हो; क्योंकि क्षुधा आदि देहादिके ही धर्म हैं। ऐसी ही श्रुति भी है—'भूख-प्यास प्राणके धर्म हैं, शोक-मोह मनके हैं और जरा-मरण शरीरके।' देहद्वयका अध्यास होनेपर ही उनके धर्मोंका अध्यास होता है। इस प्रकार श्रमहीन हो जानेसे वह निरुपद्रव हो जाता है। क्रोध, हर्ष, लोभ एवं मोह आदि अन्तराय ही उपद्रव हैं; उनसे रहित होनेसे वह निरुपद्रव हो जाता है।

सम्मतः शिष्टवन्न स्यात्, न आचरेत्, जडवच्चरेद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः ॥ ३४ ॥

उसे विद्वान्लोग शिष्ट समझते हैं। परंतु वह शिष्टवत् व्यवहार न करे, बल्कि उस ब्रह्मवेत्ता क्रान्तदर्शी ब्राह्मणको जडवत् आचरण करना चाहिये ॥ ३४ ॥

अगूढचारीकी निन्दा

इदानीमगूढचारिणं कुत्सयन्नाह—

अब गूढवृत्तिसे आचरण न करनेवालेकी निन्दा करते हुए कहते हैं—

ये यथा वान्तमश्नन्ति बाला नित्यमभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात् ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार बालक अपने वमन किये हुएको खा जाते हैं, उसी प्रकार [जो ब्रह्मवेत्ता अपना माहात्म्य दिखलाते हुए प्रच्छन्नरूपसे नहीं रहते] वे अपने वीर्य (पुरुषार्थ) का उपभोग करनेके कारण अपने अधःपतनके लिये मानो वमन ही भक्षण करते हैं ॥ ३५ ॥

'मूढो बाल इति प्रोक्तः श्वा च बाल इति स्मृतः' इति दर्शनाद् यथा बालाः श्वानो वा मूढा वा वान्तम् उद्गीर्णमश्नन्ति, एवं ये शिष्टा ब्रह्मविदः स्वमाहात्म्यं ख्यापयन्तोऽगूढचारिणो वर्तन्ते, ते वान्तमुद्गीर्णमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात्। यदिदं वान्ताशनं तदिदमभूतयेऽनर्थायैवेत्यर्थः। तस्माद् गूढः सन्नशिष्टवदेव समाचरेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

'मूढ पुरुषको 'बाल' कहा जाता है और कुत्ता 'बाल' कहा गया है' ऐसा देखे जानेके कारण, जिस प्रकार बाल यानी कुत्ता या मूर्खलोग अपने वमन—उल्टी किये हुए पदार्थको खा जाते हैं, उसी प्रकार जो शिष्ट ब्रह्मवेत्ता अपनी महिमाको प्रकट करते हुए गूढ आचरण नहीं करते, वे अपने वीर्यका उपभोग करनेके कारण वमन—उल्टीको ही भक्षण करते हैं। तात्पर्य यह है कि उनका जो यह वमन-भक्षण करना है, वह उनकी अभूति यानी अनर्थके ही लिये होता है। अतः गूढ रहकर असभ्य पुरुषोंके ही समान आचरण करे—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ३५ ॥

ज्ञानीकी प्रशंसा

इदानीं योगिनः प्रशंसन्नाह—

अब योगियोंकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या वेदेषु ये द्विजाः।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्या विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम् ॥ ३६ ॥

जो द्विज मानुषी सम्पत्तिमें असम्पन्न और वैदिक साधनोंमें सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष यानी दुर्दमनीय होते हैं; उन्हें ब्रह्मस्वरूप ही जानना चाहिये ॥ ३६ ॥

अनाढ्या अबहुमता असक्तात्मानो मानुषे वित्ते जायापुत्रवित्तादिषु, आढ्या वेदेषु वेदप्रति-

जो द्विज स्त्री, पुत्र एवं धन आदि मानुषी सम्पत्तिमें अनाढ्य—अधिक न माने जानेवाले यानी अनासक्तचित्त

पाद्याहिंसासत्यास्तेयापरिग्रहब्रह्मचर्यसमाधिसाधनेषु ये द्विजास्ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्याः । विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम् । ब्रह्मस्वरूपभूतान् इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

और वेदों यानी वेदप्रतिपाद्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्यादि समाधिके साधनोंमें आढ्य—सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष यानी दुर्दमनीय होते हैं। उन्हें ब्रह्मका शरीर अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपभूत समझना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३६ ॥

किं च ब्रह्मविन्महिमैषः—

तथा ब्रह्मवेत्ताकी तो ऐसी महिमा है कि—

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन ।
न समानो ब्राह्मणस्य यस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ३७ ॥

इस लोकमें जो कोई सम्यक् प्रकारसे इष्टसिद्धि करनेवाले समस्त देवताओंको जानता है तथा जिसके यजनके लिये वह स्वयं प्रयत्न करता है, वह देवता भी इस ब्राह्मणके समान नहीं होता ॥ ३७ ॥

सर्वानग्न्यादीन् स्विष्टकृतः सुष्ठु इष्टं कुर्वन्तीति । तथा च श्रुतिः—'स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृत्' इति । देवान् प्रत्येकमुद्दिश्य त्यागार्थं विद्याद् य इह कश्चन सर्वदेवतायाज्यपि ब्राह्मणस्य न समानो ब्राह्मणेन ब्रह्मविदा न समान इत्यर्थः ।

नैतदाश्चर्यम्—यस्मिन् देवताविशेषे हविष उद्देशत्यागेन फलार्थं प्रयतते स्वयं यजमानः 'इदमग्नये इदमिन्द्राय' इति सोऽपि हविष्प्रतियोगी देवताविशेषो न समानो ब्रह्मविदा, किमु वक्तव्यं देवपशुर्यजमानो न समान इति । तथा च मोक्षधर्मे—

ब्राह्मणस्य न सादृश्ये वर्तते सोऽपि किं पुनः ।
इज्यते येन मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः ॥

इति । तथा चाह भगवान् मनुः—

ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किंचिदिह विद्यते । इति ॥ ३७ ॥

जो कोई अग्नि आदि सम्पूर्ण स्विष्टकृत्—जो सम्यक् इष्ट करते हैं, जैसा कि 'सम्यक् इष्ट करनेसे स्विष्टकृत्' यह श्रुति कहती है, उन देवताओंमेंसे प्रत्येकको उनके उद्देश्यसे हविर्दान करनेके लिये जानता है, ऐसा जो कोई भी इस लोकमें समस्त देवताओंका यजन करनेवाला है, वह भी इस ब्राह्मण यानी ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

यह कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि जिस देवता-विशेषके प्रति 'यह अग्निके लिये है, यह इन्द्रके लिये है' ऐसा कहकर हविका फलत्याग करते हुए यजमान फलप्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है, वह उस हविका प्रतियोगी देवताविशेष भी ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं होता; फिर उस देवताका पशु यजमान उसके समान नहीं है—इस विषयमें तो कहना ही क्या है ? ऐसा ही मोक्षधर्ममें भी कहा है—'ब्राह्मणकी तुलनामें तो वह (देवता) भी नहीं है; फिर जिस मन्त्रसे उसका यजन किया जाता है और जो द्विजश्रेष्ठ यजन करता है, उनका तो कहना ही क्या है ?' तथा भगवान् मनु भी कहते हैं—'ब्रह्मवेत्ताओंसे बड़ा इस लोकमें और कोई नहीं है ।' इत्यादि ॥ ३७ ॥

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

फिर भी उसीके आचरणका वर्णन करते हैं—

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः ।
न मान्यमानो मन्येत नावमानेऽनुसंज्वरेत् ॥ ३८ ॥

[अपनी ओरसे] कोई प्रयत्न न करनेवाले जिस ब्रह्मवेत्ताका विज्ञजन मान करें, उनसे सम्मानित हुए उस [महापुरुष] को 'मैं सम्मानित हुआ हूँ' ऐसा नहीं मानना चाहिये और कभी अपमानित होनेपर संतप्त नहीं होना चाहिये ॥ ३८ ॥

यं ब्रह्मविदम् अप्रयतमानं तूष्णींभूतं सर्वोपसंहारं कृत्वा स्वे महिम्नि व्यवस्थितं ब्रह्मचर्यादेव कृतसंन्यासिनं वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थं परमहंसपरिव्राजकाचार्यं गूढचारिणं केचिद्विद्वांसः स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञा ब्रह्मविदिति मत्वा मानयन्ति पूजयन्ति चेत्, स तैः पूजितो विद्वान् न 'मान्यमानः अहम्' इति मन्येत । तथा, स्थितप्रज्ञलक्षणानामनभिज्ञाः 'जड इति' मत्वा अवमानं कुर्वन्ति इति चेत् तस्मिन् अवमाने निमित्ते नानुसंज्वरेत्—नानुतप्येत् ॥ ३८ ॥

किसी प्रकारका प्रयत्न न करनेवाले, मौनावलम्बी, सम्पूर्ण विषयोंका उपसंहार कर अपनी महिमामें स्थित, ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास करनेवाले, वेदान्त-विचारद्वारा परमार्थतत्त्वमें सुनिश्चित तथा अज्ञातरूपसे आचरण करनेवाले जिस परमहंस-परिव्राजकाचार्यका कोई स्थितप्रज्ञके लक्षण जाननेवाले विद्वान् 'यह ब्रह्मवेत्ता है' ऐसा मानकर सत्कार यानी पूजन करें तो उनसे पूजित हुआ वह विद्वान् 'मैं सम्मानित हुआ हूँ' ऐसा न माने और यदि स्थितप्रज्ञके लक्षण न जाननेवाले पुरुष 'यह मूर्ख है' ऐसा समझकर उसका अपमान करें तो उस अपमानके कारण उसे अनुताप नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

मानापमानमें ज्ञानीकी स्थिति

कथं तर्हि मानितेनावमानितेन वा मन्तव्यम् ? इत्याह श्लोकद्वयेन—

अब दो श्लोकोंसे यह बतलाते हैं कि सम्मानित या अपमानित होनेपर उसे क्या समझना चाहिये—

लोकस्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा ।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥ ३९ ॥
अधर्मविदुषो मूढा लोकशास्त्रविवर्जिताः ।
न मान्यं मानयिष्यन्ति इति मन्येदमानितः ॥ ४० ॥

सम्मान होनेपर उसे ऐसा मानना चाहिये कि [नेत्रोंके] निमेषोन्मेषके समान यह लोककी स्वाभाविकी ही वृत्ति है कि यहाँ विद्वान् लोग मान करते हैं तथा अपमान होनेपर उसे ऐसा समझना चाहिये कि जो धर्मको न जाननेवाले मूढ़ और लोक एवं शास्त्रसम्बन्धी आचरणसे अनभिज्ञ हैं, वे कभी माननीयोंका मान नहीं करेंगे ॥ ३९-४० ॥

यदिदं विद्वांसो ब्रह्मविदं मानयन्ति इति तत्तेषां निमेषोन्मेषवत् स्वभाववृत्तिः स्वाभाविकी प्रवृत्तिरिति मन्येत । तथा, अवमानितो जनैरवज्ञातो

ये विद्वान् लोग जो ब्रह्मवेत्ताका मान करते हैं, वह निमेषोन्मेषके समान उनकी स्वभाववृत्ति—स्वाभाविकी प्रवृत्ति है—ऐसा उसे [मान होनेपर] मानना चाहिये ।

विद्वानेवं मन्येत--अधर्मविदुषो मूढा विवेकहीना लोकशास्त्रविवर्जिता न मान्यं मानार्हं मानयिष्यन्ति, अमान्यमपि मानयिष्यन्ति, इत्येतदविदुषां स्वभाव इति मन्येत अमानितोऽपूजितो विद्वान् ॥ ३९-४० ॥

तथा लोगोंद्वारा अपमानित होनेपर उस अपमानित विद्वान्को ऐसा समझना चाहिये कि जो धर्मसे अनभिज्ञ, मूढ़--विवेकहीन तथा लोक और शास्त्रसे बाह्य हैं, वे कभी माननीयोंका मान नहीं करेंगे और कभी अमाननीय-का भी सम्मान करने लगेंगे--यह भी अज्ञानियोंका स्वभाव ही है ॥३९-४० ॥

मान और मौनके विभिन्न फल

इदानीं मानमौनयोर्भिन्नविषयत्वमाह—

अब मान और मौनकी भिन्नविषयताका वर्णन करते हैं—

न वै मानश्च मौनं च सहितौ वसतः सदा ।
अयं मानस्य विषयो ह्यसौ मौनस्य तद्विदुः ॥ ४१ ॥

सर्वदा ही मान और मौन--ये दोनों साथ-साथ नहीं रहते । मानका विषय तो यह (दृश्यमान लोक) है और मौनका विषय वह (परलोक) है, जो तत् (ब्रह्म) नामसे प्रसिद्ध है ॥ ४१ ॥

न वै मानश्च मौनं च सहितौ एकत्र वसतः सदा । अयं प्रत्यक्षादिगोचरो लोको—लोक्यत इति प्रपञ्चो मानस्य विषयः । असौ परलोको मौनस्य । कोऽसौ । तद् विदुः । तदिति ब्रह्मणो नाम । तथा चाह भगवान्—

'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'

इति । तथा चानुगीतासु—

'ॐ तत्सद्विष्णवे चेति सायुज्यादिप्रदानि वै ।'

इति तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म मौनस्य विषय इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—मानात्संसारप्राप्तिः, मौनेन ब्रह्म-प्राप्तिरिति । उक्तं च हैरण्यगर्भे—

अन्नाङ्गनादिभोगेषु भावो मान इति स्मृतः ।
ब्रह्मानन्दसुखप्राप्तिहेतुर्मौनमिति स्मृतम् ।इति।४१।

सदा ही मान और मौन—ये साथ-साथ अर्थात् एक जगह नहीं रहते । तात्पर्य यह है कि यह प्रत्य-क्षादिका विषयभूत लोक—जो दिखायी देता है ऐसा यह प्रपञ्च तो मानका विषय है और वह परलोक मौनका विषय है। वह परलोक कौन-सा है ? जिसे 'तत्' नामसे जानते हैं । 'तत्' यह ब्रह्मका नाम है; जैसा कि भगवान्ने कहा है--'ॐ तत्सत्'--यह तीन प्रकारका ब्रह्मका ही निर्देश (सूचक-नाम) माना गया है ।' तथा अनुगीतामें कहा है—'ॐ तत्सद्विष्णवे' ये पद निश्चय ही सायुज्य आदि मुक्तियाँ प्रदान करनेवाले हैं । तात्पर्य यह है कि 'तत्'शब्दवाच्य ब्रह्म मौनका विषय है । [इस सबसे] यही कहा है कि 'मानसे संसारकी प्राप्ति होती है और मौनसे ब्रह्मकी ।' हिरण्यगर्भसंहितामें भी कहा है--'अन्न और स्त्री आदि भोगोंमें मनकी प्रवृत्ति होना 'मान' कहा गया है तथा मौन ब्रह्मानन्दके सुखकी प्राप्तिका कारण है—ऐसा कहा है' ॥ ४१ ॥

इदानीं मानार्थसंवासेऽपवर्गाभावं दर्शयति—

अब मानसम्बन्धी विषयोंमें रहनेसे मोक्षका अभाव दिखलाते हैं—

श्रीर्हि मानार्थसंवासात् सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४२ ॥

मानसम्बन्धी विषयोंमें रहनेसे लक्ष्मी प्राप्त होती है, परंतु वह भी कल्याण-मार्गकी तो विरोधिनी ही है। हे क्षत्रिय! ज्ञानहीन पुरुषको ब्राह्मी लक्ष्मी तो अत्यन्त दुर्लभ ही है ॥ ४२ ॥

हे क्षत्रिय! मानार्थसंवासान्मानविषयसंवासान्मानगोचरे प्रपञ्चे वर्तमानस्य स्वर्गपश्वन्नादिसाधनभूतं कर्मानुतिष्ठतो विषयविषान्धस्य श्रीर्हि भवति। सा चापि श्रीः परिपन्थिनी श्रेयोमार्गविरोधिनी। तथा च मोक्षधर्मे—

निबन्धिनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतौ रतिः।
छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नैनं छिन्दन्ति दुष्कृतः॥इति।

य एवं श्रियाभिभूतो मूढः सन् विषयेषु प्रवर्तते तेन प्रज्ञाहीनेन विद्याहीनेन ब्राह्मी ब्रह्मानन्दलक्षणा श्रीः सुदुर्लभा। तथा च हैरण्यगर्भे—

या नित्या चिद्घनानन्दा गुणरूपविवर्जिता।
आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते॥इति।

सा च सुदुर्लभा श्रवणायापि न शक्या। तथा च श्रुतिः—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इति ॥ ४२ ॥

हे क्षत्रिय! मानार्थसंवाससे—मानसम्बन्धी विषयोंमें रहनेसे अर्थात् मानविषयक प्रपञ्चमें विचरनेवाले यानी स्वर्ग, पशु एवं अन्नादिके साधनभूत कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले विषय-विषान्ध पुरुषको लक्ष्मी ही मिलती है; किंतु वह लक्ष्मी भी परिपन्थिनी अर्थात् श्रेयोमार्गकी विरोधिनी ही है। जैसा कि मोक्षधर्ममें भी कहा है—'ग्रामके भीतर रहनेमें जो राग होता है, यह बाँधनेवाली रस्सी ही है। पुण्यात्मा लोग इसका छेदन करके निकल जाते हैं; किंतु पुण्यहीन लोग इसका छेदन नहीं कर पाते।'

जो इस प्रकार लक्ष्मीके चंगुलमें फँसकर अविवेकी हुआ विषयोंमें प्रवृत्त होता है, उस प्रज्ञाहीन यानी ज्ञानहीन पुरुषको ब्राह्मी—ब्रह्मानन्दरूपा लक्ष्मी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा ही हिरण्यगर्भसंहितामें कहा है—'जो नित्य, चिद्घनानन्दस्वरूपा तथा गुण और रूपसे रहित है, वह आनन्द नामवाली परमशुद्धा ब्राह्मी श्री कही जाती है।' किंतु वह है बड़ी दुर्लभ—वह सुननेके लिये भी मिलनी कठिन है। जैसा कि श्रुति कहती है—'जो बहुतोंको तो सुननेके लिये भी मिलनेवाला नहीं है' इत्यादि ॥ ४२ ॥

ब्राह्मी लक्ष्मीमें प्रवेशके द्वार

इदानीं ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि दर्शयति—

अब ब्राह्मी लक्ष्मीमें प्रवेश करनेके द्वार दिखलाते हैं—

द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति सन्तो बहुप्रकाराणि दुराचराणि।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्याः षण्मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥ ४३ ॥

संतजन [उसमें प्रवेश करनेके] अनेक प्रकारके दुश्चर द्वारोंका सम्यक् प्रकारसे वर्णन करते हैं। सत्य, आर्जव, ह्री, दम, शौच और विद्या—ये छः गुण मान और मोहके प्रतिबन्धक हैं ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वाराणि ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि सन्तः सम्यक् प्रवदन्ति बहुप्रकाराणि दुराचराणि दुःखाचरणानि । कानि तानि ? सत्यार्जवे—सत्यं यथार्थभाषणं भूतहितं च । आर्जवम्, अकौटिल्यम् । ह्रीः, अकार्यकरणे लज्जा । दमशौचविद्याः—दमः—अन्तःकरणोपरतिः । बहिःकरणोपरतिरिति केचित् । शौचं कल्मषप्रक्षालनम् । विद्या ब्रह्मविद्या । षडेतानि मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥ ४२ ॥

संतजन ब्रह्मलक्ष्मीके प्रवेश करनेके अनेक प्रकारके दुराचार—कठिनतासे आचरण किये जानेवाले द्वारोंका वर्णन करते हैं । वे द्वार कौन-से हैं ? [इसपर कहते हैं—] 'सत्यार्जवे'—'सत्य' अर्थात् प्राणियोंके लिये हितकर और यथार्थ भाषण, 'आर्जव'—अकुटिलता, 'ह्री' न करनेयोग्य कार्यके करनेमें संकोच होना, 'दमशौचविद्याः'—अर्थात् 'दम'—अन्तःकरणकी शान्ति, विषयोंसे उपरति; किसी-किसीके मतमें बाह्य करणों (नेत्रादि इन्द्रियों) की विषयोंसे उपरति; 'शौच'—मलिनताका मार्जन तथा 'विद्या'—ब्रह्मविद्या । ये छः गुण मान और मोहके प्रतिबन्धक हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

मौनविषयक प्रश्न

अयं मानस्येत्यादिना मौनमाहात्म्यं प्रदर्शितं श्रुत्वा प्राह धृतराष्ट्रः—

'अयं मानस्य' इत्यादि श्लोकोंसे दिखलाये गये मौनके माहात्म्यको सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—

धृतराष्ट्र उवाच—

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम् ।
मौनेन विद्वानुपयाति मौनं कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्र बोले—यह मौन किसे होता है और किस प्रकारका यह मौन है ? हे विद्वन् ! आप मौनका स्वरूप वर्णन कीजिये । क्या विद्वान् [वाणीके] मौनद्वारा मौन (ब्रह्म) को प्राप्त कर सकता है ? हे मुने ! इस लोकमें लोग किस प्रकार मौनका आचरण करते हैं ? ॥ १ ॥

कस्य कीदृशस्य एष पूर्वोक्तो वागाद्युपरतिलक्षणो मौनो भवति? कतरन्नु एतयोरसम्भाषणात्मस्वरूपयोर्मौनम् ? प्रब्रूहि हे विद्वन् ! इह मौनभावम् । मौनस्य स्वभावम् । मौनेन तूष्णींभावेन विद्वानुपयाति मौनं ब्रह्म, आहोस्विदन्येन ? कथं मुने ! मौनमिहाचरन्ति ? ॥ १ ॥

किसे अर्थात् किस प्रकारके पुरुषको यह वाणी आदिकी निवृत्तिरूप पूर्वोक्त मौन हो सकता है ? तथा यह असम्भाषण एवं आत्मस्वरूप मौनोंमेंसे कौन-सा मौन है ? हे विद्वन् ! वह आप मौनभाव अर्थात् मौनके स्वभावका वर्णन कीजिये । विद्वान् असम्भाषणरूप मौनके द्वारा मौन—ब्रह्मको प्राप्त होता है अथवा [आत्मस्वरूप] दूसरे मौनके द्वारा ? हे मुने ! इस लोकमें लोग किस प्रकार मौनका आचरण करते हैं ? ॥ १ ॥

मौनका लक्षण

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततः स मौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—हे राजन्! क्योंकि मनके सहित सम्पूर्ण वेद इस परमात्मामें प्रवेश नहीं कर सकते, इसलिये यही मौन है । जिस (संवेदनसंज्ञक अर्थ) में वाचकरूपसे 'वेद' शब्दका प्रयोग हुआ है, वैसा ही यह परमात्मा है और तद्रूप ही यह अनुभव भी होता है ॥ २ ॥

यतो यस्माद्वेदा मनसा सह एनं परमात्मानं नानुप्रविशन्ति । तथा च श्रुतिः—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति । ततस्तस्मादेव कारणात् स एव वाचामगोचरः परमात्मा मौनम् ।

क्योंकि मनके सहित वेद इस परमात्मामें अनुप्रविष्ट नहीं हो सकते, इसलिये यह (परमात्मा) ही मौन है । जैसी कि श्रुति भी है—'जहाँसे मनके सहित वाणी न पहुँचकर लौट आती है ।' अतः इसी कारण वाणीका अगोचर वह परमात्मा ही मौन है ।

यद्येवं किंलक्षणस्तर्हि परमात्मा ? तत्राह—यत्रोत्थितो वेदशब्दः—यस्मिन्नर्थे निमित्तभूते समुत्थितो वेदशब्दः, शास्त्रादिकारणं ब्रह्मेत्यर्थः । अथवा यस्मिन् संवेदनाख्ये उत्थितो वाचकत्वेन प्रयुक्तो वेदशब्द इत्यर्थः । तथा वेदशब्दप्रतिपाद्यः संविद्रूपोऽयं परमात्मा ।

यदि ऐसी बात है तो वह परमात्मा कैसे लक्षणोंवाला है ? इसपर कहते हैं—जहाँ अर्थात् अपने निमित्तभूत जिस अर्थमें 'वेद' शब्दका प्रयोग हुआ है ? अर्थात् ब्रह्म शास्त्रादिका कारण है । अथवा यों समझो कि जिस संवेदनरूप अर्थमें उसके वाचकरूपसे 'वेद' शब्दका प्रयोग हुआ है [वह परमात्मा है] । इस प्रकार यह 'वेद' शब्दप्रतिपाद्य परमात्मा संविद्रूप है ।

यदि वाचामगोचरः परमात्मा, कथमेतदवगम्यते संविद्रूपः परमात्मेति ? तत्राह—स परमात्मा तन्मयत्वेन ज्योतिर्मयत्वेनैवास्माकं विभाति राजन् । एवमेवास्मदनुभवो नात्राविश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः । अथवा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु ज्योतिर्मयत्वेन प्रतीयते । तथा च श्रुतिः—'तद्देवा ज्योतिषाम्', 'अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः' इति । तथा च भगवान्—ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते॥इति॥२॥

यदि परमात्मा वाणीका अविषय है तो यह कैसे जाना जाता है कि वह संवित्स्वरूप है ? इसपर कहते हैं—हे राजन् ! वह परमात्मा हमें तन्मय यानी ज्योतिःस्वरूपसे ही प्रतीत होता है । हमारा अनुभव ऐसा ही है, अतः इसमें अविश्वास नहीं करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है । अथवा यों समझो कि श्रुति-स्मृति-इतिहास एवं पुराणादिमें वह ज्योतिःस्वरूपसे प्रतीत होता है; जैसा कि श्रुति कहती है—'उसे देवगण ज्योतियोंका ज्योति बतलाते हैं,' 'वह शरीरके भीतर शुभ्र ज्योतिर्मय है, जिसे जिनके दोष क्षीण हो गये हैं, वे यतिजन देखते हैं ।' इत्यादि । तथा भगवान् भी कहते हैं—'वह ज्योतियोंका भी ज्योति और अन्धकारसे अतीत कहा जाता है' ॥ २ ॥

वेदाध्यायीको पापका लेप होता है या नहीं ?

इदानीं वेदस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—

अब वेदोंका स्वभाव जाननेके लिये धृतराष्ट्रने पूछा—

धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचो यजूंष्यधीते यः सामवेदं च यो द्विजः ।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते न स लिप्यते ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—जो द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका अध्ययन करता है, वह पाप करनेपर उनसे लिप्त होता है या नहीं ॥ ३ ॥

यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीनधीते स तेन वेदाध्ययनेन पूयते न वा ? एतद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

जो पापाचरण करते हुए ऋगादि वेदोंका अध्ययन करता है, वह उस वेदाध्ययनके द्वारा पवित्र होता है या नहीं ? यह आप वर्णन कीजिये—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ३ ॥

वेदाध्ययन पापसे बचानेमें असमर्थ है

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

नैनं सामान्यृचो वापि यजूंषि च विचक्षण ।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—हे परम चतुर धृतराष्ट्र ! मैं तुमसे झूठ नहीं कहता, इसे सामवेद, ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप-कर्मसे नहीं बचा सकते ॥ ४ ॥

यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीनधीते नैनं प्रतिषिद्धचारिणम् ऋग्वेदादयो वेदाः पापात्कर्मणस्त्रायन्ते न रक्षन्ति । न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम्, एवमेवैतत्, नात्राविश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

जो पापकर्म करता हुआ ऋग्वेदादिका अध्ययन करता है, उस निषिद्धाचारीकी ऋगादि वेद पापकर्मसे रक्षा नहीं कर सकते । मैं तुमसे झूठ नहीं कहता, यह बात ऐसी ही है । तुम्हें इसमें अविश्वास नहीं करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४ ॥

किं कुर्वन्तीति चेत्, तत्राह—

तो वे क्या करते हैं ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

न च्छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहन्त्यन्तकाले ॥ ५ ॥

पाखण्डवृत्तिसे रहनेवाले इस पाखण्डीको वेद पापसे मुक्त नहीं कर सकते; बल्कि जिस प्रकार पंख निकल आनेपर पक्षी घोंसलेको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकालमें वेद इसे छोड़ देते हैं ॥ ५ ॥

न च्छन्दांस्येनं वृजिनादधर्मान्नास्तिकं पापकारिणमधीतवेदमधीतवेदार्थं मायाविनं धर्मध्वजिनं मायया वर्तमानं मिथ्याचारिणं तारयन्ति न रक्षन्ति। किं करिष्यन्तीति चेत्——यथा शकुन्ताः पक्षिणो जातपक्षाः सन्तो नीडं स्वाश्रयं परित्यजन्ति, एवं छन्दांस्यन्तकाले मरणकाले एनं स्वाश्रयभूतं प्रजहन्ति परित्यजन्ति, न पुरुषार्थाय भवन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इस अधीतवेद अर्थात् जिसने वेदार्थका अध्ययन किया है, ऐसे इस मायावी—धर्मध्वजी पापाचारी नास्तिकको जो माया (कपट) पूर्वक बर्ताव करता है अर्थात् मिथ्याचारी है, वेद वृजिन यानी पापसे नहीं तारते—वे [पापके परिणामसे] इसकी रक्षा नहीं करते। तो फिर क्या करते हैं——जिस प्रकार जिनके पंख निकल आते हैं, वे पक्षी अपने आश्रयभूत घोंसलेको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकाल यानी मरणकालमें अपने आश्रयभूत इस पापीको वेद छोड़ देते हैं; अर्थात् वे इसके पुरुषार्थके साधक नहीं होते ॥ ५ ॥

वेदाध्ययनकी उपयोगितामें धृतराष्ट्रकी शङ्का

एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः——

इस प्रकार कहे जानेपर धृतराष्ट्रने कहा——

धृतराष्ट्र उवाच——

न चेद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता विचक्षण।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे विद्वन्! यदि वेद वेदवेत्ताकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं तो इनके विषयमें ब्राह्मणोंका ऐसा सनातन प्रलाप—प्रवाद क्यों है? ॥ ६ ॥

'कर्मोदये' (अ० १ श्लो० १) इत्यादिना नित्यानां काम्यानां च पितृलोकादिप्राप्तिहेतुत्वेन संसारानर्थहेतुत्वस्य दर्शितत्वात् प्रतिषिद्धस्य कर्मणो नरकहेतुत्वेनानर्थहेतुत्वस्य च दर्शितत्वात्, न वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ताश्चेत्, अथ कस्माद्धेतोरयं प्रलापः सनातनश्चिरन्तन इत्यर्थः। संसारानर्थहेतुत्वेन वेदाध्ययनतदर्थविचारतदर्थानुष्ठानानि न कर्तव्यानीत्यर्थः ॥ ६ ॥

'कर्मोदये' इत्यादि श्लोकसे नित्य एवं काम्य कर्मोंको पितृलोकादिकी प्राप्तिके हेतुरूपसे संसाररूप अनर्थके हेतु प्रदर्शित करनेके कारण तथा नरकके हेतुरूपसे प्रतिषिद्ध कर्मोंको भी अनर्थका हेतु बतलानेके कारण यदि वेद वेदवेत्ताकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं तो इनके विषयमें ऐसा सनातन—प्राचीनकालसे प्रलाप—प्रवाद क्यों है? तात्पर्य यह है कि इस प्रकार तो संसाररूप अनर्थके हेतु होनेके कारण वेदाध्ययन, वेदार्थका विचार तथा वेदविहित कर्मोंका अनुष्ठान ही नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

उक्त शङ्काका निरसन

भवेदयं प्रलापो यद्येष एव वेदार्थः स्यात्, अन्य एव स्वर्गादेः परमपुरुषार्थो मोक्षाख्यो वेदार्थः; इतरस्य च कर्मराशेः, उपासनायाश्च तत्प्राप्तिसाधनज्ञानसाधनान्तःकरणशुद्धिसाधनत्वेन पारम्पर्येण पुरुषार्थत्वादेव वेदप्रतिपाद्यत्वम्। तथा हि--तमेव परमात्मानं परमपुरुषार्थं दर्शयति वेदः--

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः॥इति।

यदि वेदका तात्पर्य यही होता तब तो अवश्य यह प्रलाप हो सकता था; परंतु वेदका तात्पर्यभूत मोक्षसंज्ञक परमपुरुषार्थ तो स्वर्गादिसे भिन्न ही है। अन्य जो कर्मसमूह और उपासनाएँ हैं, उनका वेद-प्रतिपाद्यत्व तो मोक्षप्राप्तिके साधन ज्ञानकी साधनभूता अन्तःकरणकी शुद्धिके साधन होनेसे परम्परासे पुरुषार्थ-स्वरूप होनेके कारण है। ऐसा ही अर्थात् उस परमात्माको ही परम पुरुषार्थरूपसे वेद प्रदर्शित करता है—'वे आनन्दशून्य लोक घोर अन्धकारसे व्याप्त हैं। जो अज्ञानी और मूढ़ पुरुष हैं, वे मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं।'

स्वर्गादिलोकानामपुरुषार्थत्वमनानन्दात्मकत्वमविद्यावद्विषयत्वेन दर्शयित्वा,

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

इत्यात्मविदः कृतकृत्यतां दर्शयित्वा,
'इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीन्महती विनष्टिः। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति, अथेतरे दुःखमेवापियन्ति'॥ इत्यात्मविदोऽमृतत्वप्राप्तिम् अनात्मविद आत्मविनाशमनर्थप्राप्तिं च दर्शयित्वा,

यदैतमनुपश्यति आत्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥

इत्यादिभिर्वाक्यैस्तत्स्वरूपतदर्शतद्दर्शनतत्फलानि भूयो भूयो दर्शयित्वा, 'कथमेनं मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणं विषयाभिभूतं पापकारिणं मोक्षयित्वा परमपदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये मोक्षाख्ये स्थापयिष्यामि' इति मत्वा तत्प्राप्तिसाधनज्ञानसाधनविविदिषासाधनत्वेन यज्ञादीन् विनियुङ्क्ते—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन॥' इति।

अज्ञानीके विषय होनेके कारण स्वर्गादि लोकोंका अपुरुषार्थत्व और आनन्दशून्यत्व प्रदर्शित कर 'यह जीव आत्माको 'यही मैं हूँ' ऐसा जान जाय तो फिर किस इच्छा और किस कामनासे शरीरके [तापोंके] पीछे अपनेको संतप्त करेगा?' इस वाक्यद्वारा आत्मवेत्ताकी कृतकृत्यता दिखलाते हुए, फिर 'यहाँ रहते हुए ही हमें उसे जान लेना चाहिये। यदि हमने उसे न जाना तो बड़ी हानि होगी। जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं तथा उनसे भिन्न तो दुःख ही पाते हैं' इस श्रुतिसे आत्मवेत्ताको अमृतत्वकी प्राप्ति और अनात्मज्ञको आत्मनाशरूप अनर्थकी प्राप्ति दिखलाकर 'जिस समय भूत और भविष्यत्के नियामक इस आत्मदेवको साक्षात्-रूपसे देख लेता है तो फिर उससे दूर नहीं होता' इत्यादि वाक्योंसे उसके स्वरूप, उस वस्तुके साक्षात्कार और उस साक्षात्कारके फलोंको बार-बार प्रदर्शित कर ऐसी इच्छासे मकरादिके समान रागादि दोषोंसे इधर-उधर खींचे जाते हुए तथा विषयोंसे आक्रान्त इस पापकर्माको मुक्त करके किस प्रकार परमपद परमात्मारूप पूर्णानन्दमय मोक्षसंज्ञक स्वाराज्यपर स्थापित करूँ? उसकी प्राप्तिके साधन ज्ञानकी साधनभूता जिज्ञासाके साधनरूप यज्ञादिका भी 'उस इस आत्मतत्त्वको ब्राह्मणलोग वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपवासद्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं' इस वाक्यद्वारा वेद दिग्दर्शन कराता है।

तस्मात् तदर्थत्वेनैव यज्ञादीनां पुरुषार्थत्वम् । इतरत्र तु पुनः स्वर्गादौ श्येनयागादीनामिवापुरुषार्थत्वम्, संसारानर्थहेतुत्वात् । तथा च श्रुतिः—

'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति ॥' इति।

अतः जिज्ञासाके लिये होनेके कारण ही यज्ञादिका भी पुरुषार्थत्व है । स्वर्गादि अन्य फलोंमें उपयोगी होनेपर तो संसाररूप अनर्थके ही हेतु होनेके कारण वे श्येनयाग आदिकी भाँति अपुरुषार्थरूप ही हैं। '[ज्ञानसे निम्न कोटिका होनेके कारण] जिनमें अवर (निकृष्ट) कर्म आश्रित कहा गया है, वे ये [सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमान-पत्नीरूप] यज्ञके अठारह साधन अनित्य बतलाये गये हैं। जो मूढ श्रेयरूपसे इनकी प्रशंसा करते हैं, वे फिर भी जरा-मरणको ही प्राप्त होते हैं' इस श्रुतिका भी ऐसा ही कथन है ।

यस्मादेवं मोक्षतत्साधनप्रतिपादकत्वेन संसारानर्थनिवृत्तिहेतुत्वं वेदानाम्, तस्माद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता एवेत्येतत्सर्वमभिप्रेत्याह श्लोकत्रयेण— तत्र प्रथमेन नित्यापरोक्षं परमपुरुषार्थं परमात्मानं दर्शयति—

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये मोक्ष और उसके साधनोंका प्रतिपादक होनेसे वेद संसाररूप अनर्थकी निवृत्तिके कारण हैं । अतः वेद वेदवेत्ताकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ही—यही सब उद्देश्यमें रखकर आगेके तीन श्लोकोंसे कहते हैं । उनमेंसे पहले श्लोकसे नित्य अपरोक्ष एवं परमपुरुषार्थस्वरूप परमात्माका निर्देश करते हैं—

सनत्सुजात उवाच—

तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव ।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—हे महानुभाव ! उस परमात्माके ही नामादि विशेषरूपोंसे यह जगत् भास रहा है । उस (मायानिर्मित जगत्) का निर्देश करके वेद उसके सम्यक् (वास्तविक) रूपका वर्णन करते हैं और [मुनिगण] भी उसे विश्वसे विपरीत स्वरूपवाला बतलाते हैं ॥ ७ ॥

तस्यैव परमात्मनो मायापरिकल्पितैर्नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति हे महानुभाव । कथमेतदवगम्यते तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भातीति ? 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति मायानिर्मितं बहुरूपं निर्दिश्य तस्यैव सम्यग्रूपम् 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्' इति प्रवदन्ति वेदाः ।

हे महानुभाव ! उस परमात्माके ही मायाकल्पित नामादि विशेषरूपोंसे यह जगत् भास रहा है । यह जगत् उस परमात्माके ही नामादि विशेषरूपोंसे भास रहा है—यह बात कैसे जानी जाती है ? क्योंकि 'इन्द्र मायासे अनेकरूप होकर चेष्टा कर रहा है' इस श्रुतिसे उसके मायाजनित बहुरूपत्वका निर्देश कर 'वह यह ब्रह्म कारण-कार्यरहित एवं अन्तर-बाह्यशून्य है, सर्वानुभवरूप यह ब्रह्म ही आत्मा है—ऐसी वेदकी आज्ञा है' इस श्रुतिसे वेद उसीके वास्तविक स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

तथा च 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च' इत्यादिना तस्यैव मूर्तामूर्तात्मकमात्मवज्जगत्-स्वरूपं निर्दिश्य तस्य सम्यग् रूपम् 'नेति नेति' इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः । तथा 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इति वियदादिधरित्र्यन्तं तस्यैव कार्यं निर्दिश्य कोशोपन्यासमुखेन तस्यैव सम्यग्रूपम्, 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः । तथा—'अधीहि भगव इति होपससाद' इत्यादिना नामादिप्राणान्तं तस्यैव मायानिमित्तं जगन्निर्दिश्य 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति ,नान्यद्विजानाति स भूमा' इत्यादिना तस्यैव सम्यग्रूपं भूमानं तमसः पारं स्वे महिम्नि व्यवस्थितं प्रवदन्ति वेदाः ।

इसी प्रकार 'ब्रह्मके दो ही रूप हैं—मूर्त और अमूर्त' इत्यादि श्रुतिसे उसीके आत्मभूत मूर्त्तामूर्त्तात्मक जगद्रूपका वर्णन कर 'नेति-नेति' वाक्यसे वेद उसके वास्तविक स्वरूपका वर्णन करते हैं तथा 'आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि वाक्यसे आकाशसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त कोशोंका उल्लेख करते हुए उसीके कार्यका निर्देश कर 'जहाँसे मनके सहित वाणी, उसे न पाकर लौट आती है' इत्यादि वाक्यसे उसीके सम्यक् रूपका वर्णन करते हैं और 'भगवन्! मुझे उपदेश कीजिये, इस प्रकार [प्रार्थना करता हुआ] गुरुके समीप गया' इत्यादि वाक्यसे नामसे लेकर प्राणपर्यन्त उसीकी मायासे उत्पन्न हुए जगत्का निर्देश कर 'जहाँ कोई और नहीं देखता, कोई और नहीं सुनता, कोई और नहीं जानता, वह भूमा है' इत्यादि वाक्यसे उसीके भूमासंज्ञक वास्तविक स्वरूपका, जो अज्ञानसे परे अपने स्वरूपमें स्थित है, वेद वर्णन करते हैं ।

न केवलं वेदाः प्रवदन्ति, अपितु मुनयोऽपि तद् ब्रह्म विश्ववैरूप्यं विश्वरूपविपरीतस्वरूपम् उदाहरन्ति । तथा चाह भगवान् पराशरः—

प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम् ।
मनसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम् ।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः ॥इति॥ ७ ॥

केवल वेद ही ऐसा नहीं कहते, बल्कि मुनिगण भी उस ब्रह्मको विश्वसे विपरीत रूपवाला बतलाते हैं । जैसा कि भगवान् पराशर कहते हैं—'जिसमें सब प्रकारका भेद शान्त हो गया है, जो सत्तामात्र, मनका अविषय तथा स्वसंवेद्य है, वह ज्ञान ही 'ब्रह्म' कहलाता है । वह अरूपसंज्ञक सर्वोत्तमस्वरूप ही विष्णुभगवान्-का उत्कृष्ट रूप है । परमात्माका वह स्वरूप विश्वरूपसे विपरीत स्वभाववाला है' ॥ ७ ॥

ईश्वरार्थ कर्म भगवत्प्राप्तिका साधन है

इदानीमीश्वरार्थमनुष्ठीयमानानां तत्प्राप्तिसाधन-ज्ञानापेक्षितशुद्धिद्वारेण पारम्पर्येण पुरुषार्थत्वम्, अन्येषां संसारानर्थहेतुत्वेनापुरुषार्थत्वं च दर्शयति श्लोकद्वयेन—

अब दो श्लोकोंद्वारा ईश्वरके लिये किये जानेवाले कर्मोंका भगवत्प्राप्तिके साधनभूत ज्ञानके लिये अपेक्षित चित्तशुद्धिके द्वारा परम्परासे पुरुषार्थत्व और अन्य कर्मोंका संसाररूप अनर्थके हेतु होनेसे अपुरुषार्थत्व दिखलाते हैं—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

उस (ब्रह्म) की प्राप्तिके लिये ही वेदने ये तप और यज्ञ बतलाये हैं। उनके द्वारा यह विद्वान् पुण्य प्राप्त करता है और फिर पुण्यके द्वारा पापकी निवृत्ति कर वह ज्ञानसे देदीप्यमान हो जाता है ॥ ८ ॥

यद्विश्वरूपविपरीतरूपं ब्रह्म तदर्थमुक्तं वेदेन । किम् ? तपः—कृच्छ्रचान्द्रायणादि, इज्या—ज्योतिष्टोमादि । किं ततो भवतीति चेत्—ताभ्याम् इज्यातपोभ्याम् असौ विद्वान् पूर्वोक्तविनियोगज्ञ ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन् पुण्यमुपैति प्राप्नोति कर्मजन्यापूर्वसंयुक्तो भवति । तेन पुण्येन पापं विनिहत्य क्षपयित्वा पश्चादुत्तरकालं स क्षपिताशेषकल्मषो जायते ज्ञानविदीपितात्मा ज्ञानप्रकाशितचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपो भवति॥

जो विश्वके रूपसे विपरीत स्वरूपवाला ब्रह्म है, उसीके लिये वेदने कहा है। क्या कहा है—कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ । यदि कहो कि इनसे क्या होता है ? उनसे अर्थात् उन इज्या और तपसे पूर्वोक्त कर्मका विनियोग जाननेवाला यह विद्वान् ईश्वरके लिये कर्म करता हुआ पुण्यको प्राप्त होता है अर्थात् कर्मजनित अपूर्वसे युक्त होता है और फिर उस पुण्यसे पापका पराभवकर सम्पूर्ण कर्मोंकी निवृत्ति हो जानेपर ज्ञानसे देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् ज्ञानालोकसे 'युक्त सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान् न चान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी ।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्वममुत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

विद्वान् ज्ञानके द्वारा ही आत्माको प्राप्त करता है, अन्य प्रकार नहीं। इन्द्रियवर्गसम्बन्धी फलोंका इच्छुक होनेपर तो वह इस लोकमें सम्पूर्ण यज्ञादि कर्मोंको ग्रहण कर परलोकमें उनका फल भोगता है और फिर संसारमार्गको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

ज्ञानेन चात्मानं परमात्मानमुपैति प्राप्नोति विद्वानात्मवित्। अन्यथा पुनरीश्वरार्थं कर्माननुष्ठानेनाक्षपिताशेषकल्मषो ज्ञानी न भवति । तदा वर्गफलानुकाङ्क्षी इन्द्रियफलानुकाङ्क्षी स्वर्गादिफलानुकाङ्क्षी सन् अस्मिन् लोके कृतं तद् यज्ञादिकं परिगृह्य सर्वममुत्र परलोके तत्फलमुपभुङ्क्ते । ततः कर्मशेषेण पुनरेति मार्गं संसारमार्गम् । तथा च श्रुतिः—'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति ॥ ९ ॥

और ज्ञानसे वह विद्वान्—ब्रह्मवेत्ता आत्मा यानी परमात्माको प्राप्त हो जाता है । नहीं तो, ईश्वरके लिये कर्मानुष्ठान न करनेपर पापोंकी निवृत्ति न होनेके कारण वह ज्ञानी नहीं होता। तब वह वर्गफलानुकाङ्क्षी—इन्द्रियसम्बन्धी फलोंका इच्छुक अर्थात् स्वर्गादिफलका अभिलाषी होनेपर इस लोकमें किये हुए यज्ञादि सम्पूर्ण कर्मोंको ग्रहण कर परलोकमें उनका फल भोगता है और फिर भोगकी समाप्ति होनेपर पुनः संसारमार्गको प्राप्त हो जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—'उस (स्वर्गलोक) में कर्मक्षयपर्यन्त रहकर वे फिर इसी संसारमार्गमें लौट आते हैं' ॥ ९ ॥

ज्ञानी और अज्ञानीकी अपेक्षासे कर्मफलमें भेद

इदानीं विद्वदविद्वदपेक्षया कर्मणां फलवैषम्यमाह—

अब ज्ञानी और अज्ञानीकी अपेक्षासे कर्मफलकी विभिन्नता बतलाते हैं—

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते।
ब्राह्मणानां तपः स्वृद्धमन्येषां तावदेव तत्॥ १०॥

इस लोकमें जो तप किया जाता है, उसका परलोकमें फल भोगा जाता है; किंतु ब्रह्मवेत्ताओंका तप अत्यन्त समृद्ध होता है, जब कि और सबके लिये वह [जितना कि शास्त्रोंमें बतलाया गया है] उतना ही रहता है॥ १०॥

अस्मिन् लोके यत् तपस्तप्तं फलं तस्य अन्यत्र, अमुष्मिँल्लोके भुज्यत इति तावत् सर्वेषां समानम्। ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां पुनरयं विशेषः—तपः स्वृद्धम् अतीवसमृद्धं भवति फलवृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इति। अन्येषामनात्मविदां वैषयिकाणां तावदेव तन्न समृद्धं भवति; यस्य कर्मणो यत्फलं श्रुतं तावन्मात्रफलसाधनं न फलसमृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थः॥ १०॥

इस लोकमें जो तप किया जाता है, उसका फल अन्यत्र—परलोकमें भोगा जाता है—यह बात तो सभीके लिये समान है। किंतु ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ताओंके विषयमें इतनी विशेषता है कि उनका तप स्वृद्ध—अत्यन्त समृद्ध यानी फलकी वृद्धिका हेतु होता है। ऐसी ही श्रुति भी है—'जो कर्म विद्यासे, श्रद्धासे और ज्ञानपूर्वक किया जाता है, वह अधिक वीर्यवान् होता है' तथा अन्य जो अनात्मज्ञ विषयी लोग हैं, उनका वह कर्म उतना ही रहता है, वह समृद्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस कर्मका जो फल सुना गया है, वह उतने ही फलका साधक होता है—फलकी वृद्धिका हेतु नहीं होता॥ १०॥

तप केवल कैसे होता है ?

श्रुत्वैवमाह धृतराष्ट्रः—

ऐसा सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—

धृतराष्ट्र उवाच—

कथं समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम्।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि कथं विद्यामहं प्रभो॥ ११॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजातजी! अत्यन्त समृद्ध तप केवल किस प्रकार होता है? हे प्रभो! मैं यह बात किस प्रकार जानूँ? आप इसका वर्णन कीजिये॥ ११॥

ऋज्वेतत्॥ ११॥

यह श्लोक सरल है॥ ११॥

निष्कल्मष तप केवल होता है

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति नान्यथा ॥ १२ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—जो तप निर्दोष होता है, वह केवल (शुद्ध) कहा जाता है । इस प्रकारका तप अत्यन्त समृद्ध होता है, और किसी प्रकार नहीं ॥ १२ ॥

यदेतन्निष्कल्मषं तपः, तत्केवलं परिचक्षते केवलं बीजमित्युक्तम् । सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्य बीजं निमित्तं यत्तत्केवलमित्युक्तम् । आहोशना—

'गुणसाम्ये स्थितं तत्त्वं केवलं त्विति कथ्यते ।
केवलादेतदुद्भूतं जगत्सदसदात्मकम् ॥'

इति । तद् एतदेव केवलं तपः समृद्धमत्यर्थं च भवति नान्यथा । यदा निष्कल्मषं न भवति सकल्मषं स्यात्तदा समृद्धमत्यर्थं च न भवति ॥ १२॥

यह जो निर्दोष तप है, वह केवल कहलाता है; केवल यानी बीजरूप कहा जाता है । जो इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका बीज यानी कारण है, वह 'केवल' कहा गया है । उशना (शुक्रजी) कहते हैं—'जो तत्त्व गुणोंकी साम्यावस्था होनेपर स्थित रहता है, वह 'केवल' कहा जाता है । यह सदसद्रूप जगत् उस केवलसे ही उत्पन्न हुआ है ।' वह यह केवल तप ही अत्यन्त समृद्ध होता है, अन्य प्रकारका नहीं । अर्थात् जिस समय यह निर्दोष नहीं होता, सदोष होता है, उस समय अत्यन्त समृद्ध भी नहीं होता ॥ १२ ॥

एतदेव प्रशंसति—

अब इसीकी प्रशंसा करते हैं—

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

हे क्षत्रिय ! तुम मुझसे जो कुछ पूछते हो, वह सब तपोमूलक ही है । तपके द्वारा ही वेदवेत्ताओंने परम अमृतत्व प्राप्त किया है ॥ १३ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ १३ ॥

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है ॥ १३ ॥

तपके दोषोंके विषयमें प्रश्न

श्रुत्वैवमाह राजा—

यह सुनकर राजा धृतराष्ट्रने कहा—

धृतराष्ट्र उवाच—

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजातजी ! निर्दोष तपके विषयमें तो मैंने सुन लिया; अब आप तपके दोष बतलाइये, जिससे कि मैं इस सनातन गुह्यको जान सकूँ ॥ १४ ॥

'निष्कल्मषं तपस्त्वेतत्केवलं परिचक्षते' इति श्रुतस्य तपसः कल्मषं ब्रूहि हे सनत्सुजात ! येन निष्कल्मषेण तपसेदं गुह्यं सनातनं ब्रह्माहं विद्यामिति ॥ १४ ॥

हे सनत्सुजातजी ! 'जो तप निर्दोष होता है, वह केवल कहा जाता है' इस प्रकार जिसके विषयमें सुना है आप उस तपके दोष बतलाइये, जिससे निर्दोष तपके द्वारा मैं इस सनातन गुह्य ब्रह्मको जान सकूँ ॥ १४ ॥

तपके दोष, नृशंस और गुणोंकी गणना

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषास्तथा नृशंसानि च सप्त राजन्।
ज्ञानादयो द्वादश चातताना: शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—हे राजन् ! जिस तपके क्रोधादि बारह दोष हैं तथा सात नृशंस हैं और ज्ञानादि बारह गुण हैं, जो कि शास्त्रमें द्विजोंके गुणरूपसे प्रसिद्ध हैं [—मैं इन सभीका वर्णन करूँगा] ॥ १५ ॥

क्रोधादयो यस्य तपसो द्वादश दोषाः कल्मषाः, तथा नृशंसानि च सप्त हे राजन् ! यस्य तपसो दोषाः, तथा ज्ञानादयो द्वादश चातताना विस्तीर्यमाणाः शास्त्रे वेदशास्त्रे ये विदिता गुणा द्विजानां तानेतान् गुणान् दोषांश्च वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

हे राजन् ! जिस तपके क्रोधादि बारह दोष हैं तथा सात नृशंस भी जिसके दोष हैं और शास्त्र यानी वेदशास्त्रमें विस्तृत जो ज्ञानादि बारह गुण हैं, जो कि द्विजोंके गुणरूपसे प्रसिद्ध हैं, उन सभी गुण और दोषोंको मैं वर्णन करूँगा—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १५ ॥

दोषोंका वर्णन

क्रोधादीन् दर्शयति—

अब क्रोधादिको प्रदर्शित करते हैं—

क्रोधः कामो लोभमोहौ विवित्सा कृपासूया मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च महागुणेन सदा वर्ज्या द्वादशैते नरेण ॥१६॥

क्रोध, काम, लोभ, मोह, विवित्सा (वैषयिक सुखोंको जाननेकी इच्छा), अकृपा, असूया, मान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और जुगुप्सा—महागुणी पुरुष (ब्राह्मण) को इन बारह दोषोंका त्याग करना चाहिये ॥ १६ ॥

क्रोधो नाम कामप्रतिघातादुत्पद्यमानस्ताडनाक्रोशनादिहेतुः, कामहानिहेतुकश्चान्तःकरणविक्षेपो गात्रस्वेदकम्पनादिलिङ्गः। कामः स्त्र्याद्यभिलाषः। लोभः परद्रव्येच्छा, आर्जितस्य स्वकीयस्य द्रव्यस्य तीर्थविनियोगासामर्थ्यं वा। मोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता। विवित्सा विषयरसान्वेत्तुमिच्छा। अकृपा निष्ठुरता। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्, परगुणादिष्वक्षमा वा। मानः—आत्मबहुमानित्वम्। शोकः—इष्टार्थवियोगजोऽन्तःकरणविक्षेपो रोदनचिन्तनादिलिङ्गोऽप्रतीकारविषयः। स्पृहा विषयभोगेच्छा। ईर्ष्या परश्रियामसहिष्णुता। जुगुप्सा परगुणानपह्नोतुमिच्छा, बीभत्सा वा।

जो मार-पीट और गाली-गलौज आदिका कारण है तथा जिसका कारण इच्छित वस्तुका नाश है, वह इच्छाके प्रतिघातसे उत्पन्न होनेवाला अन्तःकरणका विक्षेप, जिसके चिह्न शरीरमें पसीने आने लगना या कम्पनादि होने लगना है, 'क्रोध' कहलाता है। स्त्री आदिकी इच्छा होना 'काम' है। दूसरेके धनकी इच्छा होना अथवा अपने उपार्जन किये हुए धनका उचित स्थानमें उपयोग न कर सकना 'लोभ' है। कर्तव्याकर्तव्यके विवेकका अभाव 'मोह' है। वैषयिक रसोंको जाननेकी इच्छाका नाम 'विवित्सा' है। 'अकृपा' निष्ठुरताको कहते हैं। गुणोंमें दोष निकालना अथवा दूसरोंके गुणादिमें सहनशीलता न होना 'असूया' है। अपनेको बहुत मानना 'मान' है। रोना और चिन्ता करना आदि जिसके चिह्न हैं तथा जिसकी शान्तिका कोई उपाय नहीं है—ऐसा अभीष्ट वस्तुके वियोगसे होनेवाला जो अन्तःकरणका उद्वेग है, उसे 'शोक' कहते हैं। विषय-भोगकी इच्छाका नाम 'स्पृहा' है। दूसरोंकी सम्पत्तिको सहन न कर सकना 'ईर्ष्या' है। दूसरोंके गुणोंको छिपानेकी इच्छा अथवा बीभत्सता (घृणा) को 'जुगुप्सा' कहते हैं।

एते क्रोधादयो द्वादश दोषाः, तपसः कल्मषरूपाः सदा वर्ज्या महागुणेन ब्राह्मणेन। ब्राह्मणानामुत्कृष्टगुणयोगः स्वभावसिद्धः। तथा चोक्तं भगवता—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ इति।

महागुण अर्थात् ब्राह्मणको तपके मलस्वरूप इन क्रोधादि बारह दोषोंका सर्वदा त्याग करना चाहिये। ब्राह्मणोंका उत्कृष्ट गुणोंके साथ सम्बन्ध स्वभावसे ही है। ऐसा ही श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—'शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक गुण हैं।'

अथवा महागुणो ब्रह्मप्राप्तिगुणस्तेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणेन महागुणसमन्वितेन सदा वर्जनीया इत्यर्थः। उक्तं च नाममहोदधौ—

महान् ब्रह्मेति च प्रोक्तो महत्त्वान्महतामपि।
तत्प्राप्तिगुणसंयुक्तो महागुण इति स्मृतः॥ इति।

अथवा महागुण—जिसमें ब्रह्म-प्राप्तिरूप गुण हो, उस ब्रह्मप्राप्तिरूप महान् गुणसे सम्पन्न पुरुषको इन दोषोंका सर्वदा त्याग करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है। नाममहोदधिमें कहा है—''महानोंसे भी महान् होनेके कारण ब्रह्म 'महान् है' ऐसा कहा गया है। अतः जो उसकी प्राप्तिके गुणसे सम्पन्न है, वह 'महागुण' माना जाता है'' ॥ १६ ॥

तेषां सदा वर्ज्यत्वे हेतुमाह—

उनके सर्वदा त्याज्य होनेमें हेतु बतलाते हैं—

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यं पर्युपासते।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः॥ १७ ॥

जिस प्रकार व्याध मृगोंकी घातमें रहता है, उसी प्रकार हे राजेश्वर! ये दोष प्रत्येक मनुष्यको उसका कोई छिद्र देखनेकी इच्छासे घेरे रहते हैं ॥ १७ ॥

यथा मृगाणामन्तरं छिद्रं लिप्समानो रन्ध्रान्वेषणपरो लुब्धको मृगयुरनुवर्तते, यथा च छिद्रं लब्ध्वा तान् हन्ति, तथा तेषां मनुष्याणां रन्ध्रान्वेषणपरा एते क्रोधादय एकैकं मनुष्यं पर्युपासते। अथवा, मनुष्यान् पर्युपासते, इति पाठः। तस्मिन्, एकैकं पृथक् पृथक् मनुष्यान् पर्युपासत इति योजना। तथा छिद्रं लब्ध्वा तान् घ्नन्ति। तस्मादेतेष्वेकोऽपि दोषो विनाशकारणम्। यस्मादेवं तस्मात्सदा वर्ज्या इत्यर्थः। उक्तं च हैरण्यगर्भे—

यथा पान्थस्य कान्तारे सिंहव्याघ्रमृगादयः।
उपद्रवकरास्तद्वत् क्रोधाद्या दुर्गुणा नृणाम्॥ इति। १७।

जिस प्रकार मृगोंका अन्तर यानी छिद्र पानेकी इच्छासे उनके छिद्रान्वेषणमें तत्पर हुआ व्याध उनका अनुगमन करता है और जिस प्रकार घात लगनेपर उन्हें मार डालता है, उसी प्रकार मनुष्योंके छिद्रान्वेषणमें तत्पर हुए ये क्रोधादि प्रत्येक मनुष्यको घेरे रहते हैं।

अथवा जहाँ 'मनुष्यान् पर्युपासते' ऐसा पाठ है, वहाँ ऐसी संगति लगानी चाहिये कि उनमेंसे अलग-अलग प्रत्येक दोष मनुष्योंको घेरे रहता है। तथा घात लगनेपर उन्हें मार डालता है। अतः इनमेंसे एक दोष भी मनुष्यके नाशका कारण है। क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये ये सर्वदा त्याज्य हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है। हिरण्यगर्भसंहितामें कहा भी है—'जिस प्रकार वनमें सिंह-व्याघ्र और मृगादि पथिकके लिये उपद्रव करनेवाले होते हैं, उसी प्रकार क्रोधादि दुर्गुण मनुष्योंके लिये विघ्नकारक हैं' ॥ १७ ॥

सात नृशंसोंका वर्णन

इदानीं नृशंससप्तकमाह—

अब सात नृशंसोंका वर्णन करते हैं—

सम्भोगसंविद्विषमेधमानो दत्तानुतापी कृपणोऽबलीयान् ।
वर्गप्रशंसी वनितां च द्वेष्टा एते परे सप्त नृशंसरूपाः ॥ १८ ॥

विषयभोगमें ही मन-बुद्धिको लगानेवाला, विषकी भाँति वृद्धिको प्राप्त होनेवाला, दत्तानुतापी, कृपण, अबलीयान्, वर्गप्रशंसी और स्त्रीसे द्वेष करनेवाला—ये अन्य सात नृशंसरूप हैं ॥ १८ ॥

सम्भोगे विषयसम्भोगे संविद् बुद्धिर्यस्य वर्तते स सम्भोगसंविद् विषमेधमानः—विषमिव परेषाम् उपद्रवं कृत्वा एधमानो वर्द्धमानः, अथवा द्विषमेधमान इति पाठान्तरम् । द्विषं द्वेष्यं कर्म कृत्वा प्राणिनां तद्द्वारेण एधमानः । दत्तानुतापी—यः पूर्वं धर्मबुद्ध्या धनादिकं दत्त्वा पश्चात् किमर्थमहं दत्तवानिति तप्तो भवति स दत्तानुतापी । कृपणः—यत्किंचिदर्थलवलाभमात्रलोभात्सर्वावमानं सहते यः स कृपणः । अबलीयान्—ज्ञानबलवर्जितः । वर्गप्रशंसी—इन्द्रियवर्गप्रशंसी । वनितां च द्वेष्टा, अनन्यशरणां भार्यां यो द्वेष्टि । एते परे पूर्वोक्तेभ्यः क्रोधादिभ्यः सप्त नृशंसरूपाः ॥ १८ ॥

सम्भोग अर्थात् विषयभोगमें संवित्—बुद्धि है जिसकी उसे 'सम्भोगसंवित्' कहते हैं । 'विषमेधमानः'—विषके समान दूसरोंके लिये उपद्रव करके बढ़नेवाला अथवा जहाँ 'द्विषमेधमानः' ऐसा पाठान्तर है, वहाँ प्राणियोंके प्रति द्विष यानी द्वेष्य कर्म करके उसके द्वारा बढ़नेवाला'—ऐसा अर्थ होगा । 'दत्तानुतापी'—जो पहले धर्मबुद्धिसे धनादि दान करके फिर 'मैंने क्यों दिया' ऐसा पश्चात्ताप करता है, वह 'दत्तानुतापी' कहलाता है । 'कृपण' जो धनके थोड़े-से लेशमात्रका लाभ उठानेके लिये लोभवश सब प्रकारका अपमान सहता है, वह 'कृपण' है । 'अबलीयान्'—ज्ञानरूप बलसे शून्य । 'वर्गप्रशंसी' इन्द्रिय-वर्ग (यानी इन्द्रियसम्बन्धी भोगों) की प्रशंसा करनेवाला । स्त्रीसे द्वेष करनेवाला अर्थात् जिसका कोई और आश्रय नहीं है, ऐसी अपनी स्त्रीसे जो द्वेष करता है । ये पूर्वोक्त क्रोधादिसे भिन्न सात नृशंसरूप हैं ॥ १८ ॥

बारह गुणोंका वर्णन

इदानीं ज्ञानादयो द्वादश गुणा उच्यन्ते—

अब ज्ञानादि बारह गुणोंका वर्णन किया जाता है—

ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतं च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
यज्ञश्च दानं च धृतिः शमश्च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ १९ ॥

ज्ञान, सत्य, दम, श्रुति, अमात्सर्य, ह्री, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति और शम—ये ब्राह्मणके बारह महाव्रत हैं ॥ १९ ॥

ज्ञानं तत्त्वार्थसंवेदनम् । सत्यं यथार्थभाषणं भूतहितं च । दमो मनसो दमनम् । श्रुतम् अध्यात्मशास्त्रश्रवणम् । मात्सर्यं सर्वभूतेष्वसहमानता तदभावोऽमात्सर्यम् । ह्रीः—अकार्यकरणे लज्जा ।

ज्ञान—तत्त्व-वस्तुको जानना, सत्य—जीवोंके लिये हितकारी और यथार्थ भाषण, दम—मनका निग्रह करना, श्रुत—अध्यात्मशास्त्रका श्रवण, अमात्सर्य—समस्त जीवोंके प्रति सहानुभूति न होना मात्सर्य है, उसका अभाव, ह्री—न करने योग्य कार्यके करनेमें लज्जा,

तितिक्षा द्वन्द्वसहिष्णुता । अनसूया परदोषानाविष्करणम् । यज्ञः—अग्निष्टोमादिः, महायज्ञश्च । दानं ब्राह्मणादिभ्यो धनादिपरित्यागः । धृतिः—विषयसंनिधावपीन्द्रियनिग्रहः । शमः—अन्तःकरणोपरतिः, बहिःकरणोपरतिरिति केचित् । एते ज्ञानादयो महाव्रताः परमपुरुषार्थसाधनभूता ब्राह्मणस्य ॥ १९ ॥

तितिक्षा—द्वन्द्व सहन करना, अनसूया—दूसरोंके दोष न देखना, यज्ञ—अग्निष्टोमादि तथा पञ्चमहायज्ञ, दान—ब्राह्मणादिको धनादि देना, धृति—विषयके पास रहते हुए भी इन्द्रियोंका दमन करना तथा शम—अन्तःकरणकी शान्ति तथा किन्हीं-किन्हींके मतानुसार बाह्य इन्द्रियोंका दमन—ये ज्ञानादि महान् व्रत ब्राह्मणके लिये परम पुरुषार्थके साधनस्वरूप हैं ॥ १९ ॥

गुणोंकी स्तुति

ये 'ज्ञानादयो द्वादश चातताना:' इति पूर्वं प्रस्तुताः, ते वर्णिताः । इदानीं गुणस्तुतिं करोति—

'ज्ञानादयो द्वादश चातताना:' इत्यादि श्लोकसे जिनका पहले प्रस्ताव किया था, उन (गुणों) का वर्णन कर दिया गया; अब उन गुणोंकी स्तुति करते हैं—

यस्त्वेतेभ्योऽप्रवसेद् द्वादशभ्यः सर्वामिमां पृथिवीं स प्रशिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वाविमुक्ताः क्रमाद् विशिष्टा मौनभूता भवन्ति ॥ २० ॥

जो पुरुष इन बारह गुणोंसे दूर नहीं रहता, वह इस सम्पूर्ण पृथिवीका शासन करता है और जो इनमेंसे तीन, दो या एकसे भी रहित नहीं हैं, वे भी क्रमशः विशिष्ट (ज्ञानी) होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं ॥ २० ॥

यस्त्वेतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्योऽप्रवसेत् प्रवासं न करोति तैरेव समन्वितो भवेत्, स सर्वामिमां पृथिवीं प्रशिष्यात् प्रशास्ति, आत्मवश्यां करोति । य एतेषां मध्ये त्रिभिर्द्वाभ्याम् एकत एकस्माद्वा अविमुक्ता एतेषामन्यतमेनापि समन्विताः, त एते क्रमेण विशिष्टा ज्ञानिनो भूत्वा मौनभूता ब्रह्मभूता भवन्ति ॥ २० ॥

जो पुरुष इन पूर्वोक्त गुणोंसे प्रवास नहीं करता—इनसे ही सम्पन्न रहता है, वह इस सम्पूर्ण पृथिवीका प्रकृष्टरूपसे शासन करता है अर्थात् इसे अपने अधीन कर लेता है। जो लोग इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी रहित नहीं हैं अर्थात् इनमेंसे किसी भी गुणसे सम्पन्न हैं, वे क्रमशः विशिष्ट ज्ञानी होकर मौनभूत—ब्रह्मभूत हो जाते हैं ॥ २० ॥

दमके दोष

इदानीं दमदोषानाह श्लोकत्रयेण—

अब तीन श्लोकोंसे दमके दोषोंका वर्णन करते हैं—

दमोऽष्टादशदोषः स्यात् प्रतिकूलं कृते भवेत् ।
अनृतं पैशुनं तृष्णा प्रातिकूल्यं तमोऽरतिः ॥ २१ ॥

लोकद्वेषोऽभिमानश्च विवादः प्राणिपीडनम् ।
परिवादोऽतिवादश्च परितापोऽक्षमाधृतिः ॥ २२ ॥
असिद्धिः पापकृत्यं च हिंसा चेति प्रकीर्तिताः ।
एतैर्दोषैर्विमुक्तो यः स दमः सद्भिरुच्यते ॥ २३ ॥

दम अठारह दोषोंसे युक्त हो सकता है । इनके होनेपर दमसे प्रतिकूल आचरण होता है । अनृत, पैशुन (चुगली), तृष्णा, प्रतिकूलता, तमस् (अज्ञान), अरति, लोकद्वेष, अभिमान, विवाद, प्राणियोंको पीडित करना, परिवाद, अतिवाद, परिताप, अक्षमा, अधृति, असिद्धि, पापकर्म और हिंसा—ये दमके दोष बतलाये गये हैं । जो इन दोषोंसे रहित है, उसीको सत्पुरुष 'दम' कहते हैं ॥ २१–२३ ॥

दमोऽष्टादशदोषः स्यात्, अष्टादशदोषसमन्वितो भवति । किमेतेषां दोषत्वमिति चेत्, प्रतिकूलं कृते भवेत् । एतेषामन्यतमे कृते दमस्य प्रतिकूलं कृतं भवेत् । के ते ? अनृतम् अयथार्थवचनम् । पैशुनं परदूषणवचनम् । तृष्णा विषयेप्सा । प्रातिकूल्यं सर्वेषां प्रतिकूलता । तमोऽज्ञानम् । अरतिः—अयथालाभसंतुष्टिः, अथवा रतिः स्त्रीसम्भोगेष्वभिरतिः । लोकद्वेषो लोकानामुद्वेगाचरणम् । अभिमानः सर्वेषामप्रणतिभावः । विवादो जनकलहाचरणम् । प्राणिपीडनं स्वदेहपूरणाय प्राणिहिंसनम् । परिवादः समक्षे परदूषणाभिधानम् । अतिवादो निरर्थकोऽतिप्रलापो । परितापो वृथादुःखचिन्तनम् । अक्षमा द्वन्द्वासहिष्णुता । अधृतिरिन्द्रियार्थेषु चपलता । असिद्धिर्धर्मज्ञानवैराग्याणाम् । पापकृत्यं प्रतिषिद्धाचरणम् । हिंसा अविहितहिंसा । इतीत्थं दमदोषाः प्रकीर्तिताः । एतैरनृतादिभिर्दोषैर्विमुक्तो यो गुणः स दम इति सद्भिरुच्यते ॥ २१–२३ ॥

दम अठारह दोषोंवाला हो सकता है अर्थात् वह अठारह दोषोंसे युक्त होता है । यदि कहो कि इनका दोषत्व क्यों है ? [तो कहते हैं कि] इनके करनेपर प्रतिकूल होता है अर्थात् इनमेंसे किसीके भी करनेपर दमके प्रतिकूल आचरण होता है । वे दोष कौन-से हैं ? [सो बतलाते हैं—] अनृत—असत्य-भाषण, पैशुन—दूसरोंके दोष कहना, तृष्णा—विषयोंकी लालसा, प्रातिकूल्य—सबकी प्रतिकूलता, तमस्—अज्ञान, अरति—यथालाभमें संतुष्ट न रहना अथवा रति यानी स्त्री-सम्भोगमें राग, लोकद्वेष—लोकोंको उद्विग्न कर देना, अभिमान—सबके प्रति अविनयका भाव, विवाद—जनताके साथ कलह करना, प्राणिपीडन—अपने शरीरपोषणके लिये प्राणियोंकी हिंसा करना, परिवाद—किसी अन्य पुरुषके दोष उसके मुँहपर कहना, अतिवाद—व्यर्थ अधिक बकवाद करना, परिताप—वृथा दुःख मानना, अक्षमा—द्वन्द्व सहन न कर सकना, अधृति—इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंके प्रति [चित्तकी] चञ्चलता, असिद्धि—धर्म, ज्ञान और वैराग्यकी [प्राप्ति न होना], पापकर्म—प्रतिषिद्ध आचरण करना, हिंसा—शास्त्रविधानसे रहित हिंसा—इस प्रकार इतने ये दमके दोष बतलाये गये हैं । जो गुण इन अनृतादि दोषोंसे रहित है, उसीको सत्पुरुषोंने दम कहा है ॥ २१–२३ ॥

मदके दोष

इदानीं मददोषानाह—

अब मदके दोष बतलाते हैं—

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः ।
विपर्ययाः स्मृता ह्येते मददोषा उदाहृताः ॥ २४ ॥

मद अठारह दोषोंवाला हो सकता है तथा त्याग छः प्रकारका है । ये जो दमके दोष [कहे गये] हैं, वे ही अपने विपरीतरूपसे स्मरण किये जानेपर मदके दोष कहे जाते हैं* ॥ २४ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागश्च षड्विधो भवति। विपर्ययाः स्मृताः—एतेऽनृतादिहिंसान्ता ये दमदोषत्वेन स्मृताः, त एते विपर्ययाः स्मृताः सत्यादिरूपत्वेन स्मृता मददोषा मदनाशकरा उदाहृताः।

के ते ? सत्यापैशुनातृष्णाप्रातिकूल्यातमोऽरतिलोकाद्वेषानभिमानाविवादाप्राणिहिंसापरिवादानतिवादा परितापक्षमाधृतिसिद्धयपापकृत्याहिंसा इत्येते मदनाशकरा उदाहृताः ॥ २४ ॥

मद अठारह दोषोंवाला है तथा त्याग छः प्रकारका होता है। विपर्ययाः स्मृताः अर्थात् अनृतसे लेकर हिंसापर्यन्त जो दमके दोषबतलाये गये हैं, ये विपरीतरूपसे स्मरण किये जानेपर अर्थात् सत्यादिरूपसे स्मृत होनेपर मदके दोष अर्थात् मदका नाश करनेवाले कहे गये हैं ।

वे (मदके दोष) कौन-से हैं ?—सत्य, अपैशुन, अतृष्णा, अप्रातिकूल्य, अतमस् (ज्ञान), अरति (विषयोंमें राग न होना), लोकसे द्वेष न करना, अभिमानशून्यता, अविवाद, प्राणियोंकी हिंसा न करना, परिवाद न करना, अधिक बकवाद न करना, परिताप न करना, क्षमा, धृति, सिद्धि, पुण्यकर्म और अहिंसा—ये सब मदका नाश करनेवाले कहे गये हैं ॥ २४ ॥

षड्विध त्याग

'त्यागो भवति षड्विधः' इत्युक्तम् । तत्राह—

ऊपर कहा गया है कि त्याग छः प्रकारका होता है, सो उसके विषयमें कहते हैं—

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयस्तत्र दुष्करः ।
तेन दुःखं तरन्त्येव तस्मिंस्त्यक्ते जितं भवेत् ॥ २५ ॥

यों तो छः प्रकारका त्याग श्रेयस्कर है, किंतु उनमें तीसरा त्याग करना कठिन है । तथापि उसके द्वारा मनुष्य दुःखके पार हो ही जाता है तथा उस त्यागके हो जानेपर [द्वैतवर्ग] जीत लिया जाता है ॥ २५ ॥

---

* यहाँ एक बात बड़े मार्केकी है—जिस प्रकार अक्षरोंको उलटकर पढ़नेसे 'दम' का उलटा 'मद' है, उसी प्रकार जो अनृत-पैशुनादि दमके दोष हैं, उन्हींके विपरीत सत्य, अपैशुनादि मदके दोष हैं । जिस प्रकार अनृतादि दमके बाधक हैं, उसी प्रकार सत्यादि मदके घातक हैं ।

श्रेयान् तु षड्विधः त्यागः, तत्र एतेषु षड्विधत्यागेषु मध्ये तृतीयत्यागो दुष्करो दुःखसम्पाद्यो भवति। तेन तृतीयेन त्यागेन दुःखम् आध्यात्मिकादिभेदभिन्नं तरन्त्येव तस्मिन् त्यागे कृते सति सर्वं जितं भवेत् ॥ २५ ॥

श्रेयस्कर तो छः प्रकारका त्याग है; किंतु इन छः प्रकारके त्यागोंमें तीसरा त्याग दुष्कर अर्थात् कठिनतासे उपार्जन किये जानेयोग्य है। उस तीसरे त्यागके द्वारा लोग आध्यात्मिकादि भेदसे विभिन्न प्रतीत होनेवाले दुःखको पार कर ही लेते हैं तथा उस त्यागके कर लेनेपर सभी कुछ जीत लिया जाता है ॥ २५ ॥

त्यागषट्कं दर्शयति—

अब छः प्रकारका त्याग दिखलाते हैं—

अर्हते याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददाति यत्।
इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यान्नित्यं वैराग्ययोगतः ॥ २६ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ २७ ॥

योग्य पुरुषके याचना करनेपर जो उसे पुत्र एवं धन देता है [वह पहला त्याग है]। दूसरा त्याग इष्ट और पूर्त कर्म है; तथा हे राजेन्द्र ! वैराग्यके द्वारा कामनाओंका त्याग कर देना तीसरा त्याग कहा गया है। इनके द्वारा पुरुष प्रमादशून्य हो जाता है। वह अप्रमाद भी आठ गुणोंवाला माना गया है ॥२६-२७॥

अर्हते योग्याय याचमानाय पुत्रान् वित्तं ददाति यत् तदेतत् त्यागद्वयं षण्णां मध्ये प्रथमम्। इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यात्--इष्टं श्रौते कर्मणि यद् दानम्। पूर्तं स्मार्ते कर्मणि। इष्टं देवेभ्यो दत्तम्, पूर्तं पितृभ्य इति केचित्। नित्यं वैराग्ययोगतो विशुद्धसत्त्वस्यानित्यत्वादिदोषदर्शिनो विरक्ततया धनादिपरित्यागः कामत्यागश्च राजेन्द्र ! स तृतीय इति स्मृतः।

अर्हत—योग्य माँगनेवालेको जो पुत्र और धन देता है, वह यह दो प्रकारका त्याग छः प्रकारके त्यागोंमें पहला है। इष्टापूर्त दूसरा त्याग है। इष्ट—जो दान श्रौत कर्ममें दिया जाता है और पूर्त—स्मार्तकर्ममें दिया जानेवाला दान। कोई-कोई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि देवताओंको दिया हुआ दान 'इष्ट' कहलाता है और पितरोंको दिया जानेवाला 'पूर्त'। फिर सर्वदा वैराग्यके द्वारा शुद्धचित्त एवं विषयोंमें अनित्यत्वादि दोष देखनेवाले पुरुषके जो विरक्तताके कारण धनादि-त्याग तथा काम-त्याग होते हैं, हे राजेन्द्र ! वह तीसरे प्रकारका त्याग माना गया है।*

किमेतैर्भवतीत्याह—अप्रमादीति। य एतैः षड्भिस्त्यागैः समन्वितः सोऽप्रमादी भवेत्।

इनसे होता क्या है, सो 'अप्रमादी' इत्यादिसे बतलाते हैं। जो पुरुष इन छः प्रकारके त्यागोंसे सम्पन्न होता है, वह अप्रमादी हो जाता है।

* पहले त्यागमें पुत्रदान और धनदान, दूसरेमें इष्ट और पूर्त तथा तीसरेमें धनादिका त्याग और कामत्याग—इस प्रकार दो-दो त्याग रहते हैं। अतः यह तीन प्रकारका त्याग ही अपने अवान्तर भेदोंके कारण छः प्रकारका है।

सोऽप्रमादोऽष्टगुणः—अष्टभिर्गुणैः समन्वितो भवति ॥२६-२७॥

वह अप्रमाद आठ गुणोंवाला है, अतः वह आठ गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है ॥ २६-२७ ॥

आठ प्रकारके गुण

के ते ? तान् दर्शयति—

वे गुण कौन-से हैं ? उन्हें प्रदर्शित करते हैं—

सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च ।
अस्तेयो ब्रह्मचर्यं च तथासंग्रह एव च ॥ २८ ॥

सत्य, ध्यान, समाधान, शङ्का (जिज्ञासा), वैराग्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—(ये ही वे आठ गुण हैं) ॥ २८ ॥

सत्यं यथार्थभाषणम् । ध्यानं चेतसः कस्मिंश्चिच्छुभाश्रये मण्डलपुरुषादौ तैलधारावत्संतत्यविच्छेदिनी प्रवृत्तिः । समाधानं प्रणवेन विश्वाद्युपसंहारं कृत्वा स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थानम् । चोद्यम् 'कोऽहं कस्य कुतो वा' इत्यादि । वैराग्यं दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णता । अस्तेयोऽचौर्यमात्मनो द्रव्यस्य वा । आत्मचौर्यमुक्तम्—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ इति ॥

ब्रह्मचर्यम् अष्टाङ्गमैथुनत्यागः । तथा चोक्तम्—

स्मरणं कीर्तनं केलिर्वीक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ।

इति । असंग्रहोऽपरिग्रहः पुत्रदारक्षेत्रादीनाम् । एतान् परिपालयेत् ॥ २८ ॥

सत्य—यथार्थ भाषण करना, ध्यान—सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष आदि किसी शुभ आश्रयमें चित्तकी तैलधारावत् व्यवधानशून्य प्रवृत्ति, समाधान—ओंकारचिन्तनके द्वारा [अवस्थात्रयके अभिमानी] विश्वादिका बाध कर स्वाभाविक सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे स्थित होना, चोद्य (शङ्का)—'मैं कौन हूँ ? किसका हूँ ? कहाँसे आया हूँ ?' इत्यादि प्रकारकी जिज्ञासा, वैराग्य—दृष्ट और श्रुत पदार्थोंके विषयमें तृष्णाका त्याग, अस्तेय—आत्मा या द्रव्यकी चोरी न करना—'जो अन्य प्रकारके आत्माको अन्य प्रकारसे जानता है, उस आत्मघाती चोरने क्या पाप नहीं किया' इस वाक्यद्वारा आत्माकी चोरीका वर्णन किया गया है । ब्रह्मचर्य—अष्टाङ्ग मैथुनका त्याग, ऐसा ही कहा भी है—'स्त्रियोंका स्मरण, उनकी चर्चा करना, उन्हें स्पर्श करना—उनके साथ खिलवाड़ करना, उन्हें देखना, एकान्तमें उनसे वातचीत करना, स्त्री-सम्पर्कका संकल्प करना, उसके लिये प्रयत्न करना तथा मैथुन-कर्ममें प्रवृत्त होना—विद्वान् लोग यह अष्टाङ्ग (आठ प्रकारका) मैथुन बतलाते हैं। इससे विपरीत आठ प्रकारके लक्षणोंवाला ब्रह्मचर्य है ।' असंग्रह (अपरिग्रह)—पुत्र, स्त्री और क्षेत्रादिका संग्रह न करना । इन सबका सम्यक् प्रकारसे पालन करे ॥ २८ ॥

दोषोंका त्याज्यत्व और अप्रमाद

दोषान् वर्जयेदित्याह—

अब यह बतलाते हैं कि दोषोंका त्याग करना चाहिये—

एवं दोषा दमस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत् ।
दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात् स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ २९ ॥

इसी प्रकार जो दमके दोष बतलाये गये हैं, उन दोषोंका सब प्रकार त्याग करना चाहिये । उन दोषोंका त्याग करनेपर अप्रमाद होता है और वह (अप्रमाद) भी आठ प्रकारका माना गया है ॥ २९ ॥

'दमोऽष्टादशदोषः स्यात्' इति ये दोषा उक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत् । कस्मादित्याह—'दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात्' तेषु दोषेषु त्यक्तेषु प्रमादी न भवेदित्यर्थः । सोऽप्यप्रमादोऽष्टगुणो मतः । 'सत्यं ध्यानम्' इत्यादिना पूर्वमेवोपदिष्टत्वादित्यर्थः ॥ २९ ॥

'दमोऽष्टादशदोषः स्यात्' इस श्लोकसे जो दमके दोष बतलाये गये हैं, उनका सब प्रकार त्याग करना चाहिये । क्यों करना चाहिये ? सो बतलाते हैं—[क्योंकि] दोषोंका त्याग करनेपर अप्रमाद होता है, तात्पर्य यह है कि उन दोषोंका त्याग कर देनेपर वह प्रमादी नहीं होता । वह अप्रमाद भी आठ प्रकारके गुणोंवाला माना गया है; क्योंकि 'सत्यं ध्यानम्' इत्यादि वाक्यसे इसका पहले ही उल्लेख कर दिया है ॥ २९ ॥

सत्यकी स्तुति

इदानीं सत्यस्तुतिः क्रियते—

अब सत्यकी स्तुति की जाती है—

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३० ॥

हे राजेन्द्र ! तुम सत्यस्वरूप होओ, सम्पूर्ण लोक सत्यमें ही स्थित हैं । उन्हें सत्यप्रधान ही कहा है और सत्यमें ही अमृत (मोक्ष) की स्थिति है ॥ ३० ॥

सत्यात्मा सत्यस्वरूपो भव हे राजेन्द्र ! सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः । तांस्तु सत्यमुखान् सत्यप्रधानान् सत्याधीनात्मलाभान् आहुः । सत्ये हि अमृतम् आहितम्, अमृतं मोक्षः ॥ ३० ॥

हे राजेन्द्र ! तुम सत्यात्मा—सत्यस्वरूप होओ । सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक स्थित हैं; उन्हें सत्यमुख—सत्यप्रधान अर्थात् सत्यके अधीन ही अपनी सत्तास्फूर्ति रखनेवाले कहा है तथा सत्यमें ही अमृत स्थित है । अमृतका अर्थ मोक्ष है ॥ ३० ॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत् ।
एतद् धात्रा कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३१ ॥

इस लोकमें दोषोंसे रहित होकर ही तपरूप व्रतका आचरण करे । विधाताने ऐसा ही सदाचार बनाया है; सत्य ही सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ ३१ ॥

निवृत्तेनैव दोषेण 'क्रोधादयः' (अ० २ श्लो० १५) इत्यादिना पूर्वोक्तदोषरहितःसन् तपोव्रतमिहाचरेत् । एतद्धात्रा परमेश्वरेण कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां परं व्रतम् ॥ ३१ ॥

'क्रोधादयः' इत्यादि श्लोकसे पहले कहे हुए दोषोंसे रहित होकर ही इस लोकमें तपरूप व्रतका आचरण करे । विधाता—परमेश्वरने ऐसा ही सदाचार बनाया है; सत्य ही सत्पुरुषोंका उत्कृष्ट व्रत है ॥ ३१ ॥

इदानीम् 'कथं समृद्धमत्यर्थम्' इत्यनेनोपक्रान्तमर्थमुपसंहरति—

अब, जिस विषयका 'कथं समृद्धमत्यर्थम्' इत्यादि श्लोकसे आरम्भ हुआ है, उसका उपसंहार करते हैं—

दोषैरेतैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः समन्वितम् ।
एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३२ ॥

जो पुरुष इन दोषोंसे रहित और इन गुणोंसे सम्पन्न है, उसीका यह अत्यन्त समृद्ध तप केवल (शुद्ध) होता है ॥ ३२ ॥

दोषैरेतैः 'क्रोधादयः' इत्यादिना पूर्वोक्तैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः ज्ञानादिभिश्च समन्वितं यद् एतत्समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३२ ॥

'क्रोधादयः' इत्यादि श्लोकोंसे पहले कहे हुए इन दोषोंसे रहित और इन ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न जो यह अत्यन्त समृद्ध तप है, वही केवल (शुद्ध) होता है ॥ ३२ ॥

किं बहुना—

अधिक क्या ?

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् तद् ब्रवीमि ते ।
एतत् पापहरं शुद्धं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम मुझसे जो कुछ पूछते हो, वह सब संक्षेपमें मैं तुम्हें बतलाता हूँ । यह सम्पूर्ण पापोंको निवृत्त करनेवाला, शुद्ध एवं जन्म, मृत्यु और जराकी निवृत्ति करनेवाला है ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! यन्मां पृच्छसि तत् संक्षेपात् समासतो ब्रवीमि ते। एतद् वक्ष्यमाणं पापहरं शुद्धं फलाभिकाङ्क्षारहितं तपोव्रतं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ३३ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम मुझसे जो कुछ पूछते हो, वह मैं संक्षेपसे—साररूपसे तुम्हें बताता हूँ । यह आगे बताया जानेवाला फलाकाङ्क्षासे रहित पापापहारी शुद्ध तपरूप व्रत जन्म, मृत्यु और जराकी निवृत्ति करनेवाला है ॥ ३३ ॥

सुखी पुरुषका स्वरूप

किं तदिति चेत् ? तत्राह—

यदि कहो कि वह क्या बात है तो उस विषयमें कहते हैं—

इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत ।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत् ॥ ३४ ॥

हे भारत ! यदि कोई पुरुष इन्द्रियोंसे, उनके पाँच विषयोंसे, मनसे और भूत-भविष्यत्‌के चिन्तनसे मुक्त हो जाय तो वही सुखी हो जायगा ॥ ३४ ॥

हे भारत ! यः सविषयेभ्यः पञ्चभ्य इन्द्रियेभ्यो वर्तमानेभ्यो मनसश्चैव तथातीतेभ्योऽनागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत्, मुक्त एव भवेदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

हे भारत ! यदि कोई पुरुष पाँच वर्तमान विषयोंके सहित इन्द्रियोंसे, मनसे तथा भूत और भविष्यत् [के चिन्तन] से मुक्त हो जाय तो वह सुखी अर्थात् मुक्त ही हो जायगा ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रका ब्राह्मणविषयक प्रश्न

एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः—

ऐसा कहे जानेपर धृतराष्ट्रने कहा—

धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः ।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे ॥ ३५ ॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्च अनृचश्च तथापरे ।
एतेषु मेऽधिकं ब्रूहि यमहं वेद ब्राह्मणम् ॥ ३६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—कोई पुरुष तो, जिनमें आख्यान (पुराण) पाँचवाँ है, ऐसे पाँच वेदोंके कारण उत्कृष्ट कहा जाता है, कोई चतुर्वेदी कहलाते हैं, किन्हींको त्रिवेदी कहते हैं तथा कोई द्विवेदी, कोई एक वेदी और कोई अनृच कहे जाते हैं । इनमें जो बड़ा हो, सो मुझे बतलाइये, जिसे कि मैं [सर्वोत्कृष्ट] ब्राह्मण समझूँ ॥ ३५-३६ ॥

आख्यानं पुराणं पञ्चमं येषां वेदानां ते आख्यानपञ्चमाः । श्रूयते च छान्दोग्ये—'इतिहासपुराणं पञ्चमम्' इति । तैराख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठम् अत्यर्थं कत्थ्यते श्लाघ्यते बहु मन्यते सर्वस्मादधिकोऽहमिति । कथ्यते इति केचित्पठन्ति । आख्यानपञ्चमैर्वेदैः कश्चिज्जनः पञ्चमवेदीति कथ्यते इत्यर्थः ।

आख्यान अर्थात् पुराण है पाँचवाँ जिन वेदोंमें, वे वेद 'आख्यानपञ्चम' कहलाते हैं । इस विषयमें 'इतिहास-पुराण पाँचवाँ वेद है' ऐसी छान्दोग्य श्रुति भी है । उन आख्यानपञ्चम वेदोंके कारण कोई अपनेको 'मैं सबसे बढ़कर हूँ' ऐसा बढ़ाकर बोलते हैं अर्थात् अपनी प्रशंसा यानी अधिक मान करते हैं । यहाँ कोई-कोई 'कत्थ्यते' के स्थानमें 'कथ्यते' भी पढ़ते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि कोई लोग जिनमें आख्यान पाँचवाँ है, उसे वेदोंके कारण 'पञ्चवेदी' कहे जाते हैं ।

तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाः, अपरे द्विवेदाः, एकवेदाश्च अनृचश्च तथापरे परित्यक्तऋगादिवेदा अपरे । एतेषु मनुष्येष्वधिकं श्रेष्ठं ब्रूहि यमहं ब्राह्मणं वेद विद्याम् ॥ ३५-३६ ॥

तथा कोई लोग चतुर्वेदी, कोई त्रिवेदी, कोई द्विवेदी, कोई एकवेदी और कोई अनृच अर्थात् ऋगादि वेदोंसे बाह्य कहे जाते हैं । इन मनुष्योंमें जो बड़ा यानी श्रेष्ठ है, उसे मुझे बतलाइये, जिसे कि मैं [उत्कृष्ट] ब्राह्मण जानूँ ॥ ३५-३६ ॥

उत्तर—सत्यस्वरूप वेद और वेदज्ञ

य एव स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावस्थितः स एव ब्राह्मण इति दर्शयिष्यन् तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तदज्ञानमूलत्वं दर्शयति—

जो भी अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे स्थित है, वही ब्राह्मण है—यह दिखलाते हुए, [अब] उससे भिन्न और सबका अज्ञानमूलत्व प्रदर्शित करते हैं—

सनत्सुजात उवाच—

एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवोऽभवन् ।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ३७ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—हे राजेन्द्र ! एक सत्यस्वरूप वेदको न जाननेसे ही बहुत-से वेद हो गये हैं । उस सत्यमें कोई-कोई ही स्थित है ॥ ३७ ॥

एकस्य वेदस्य—वेद्यमिदंरूपम् अनिदंरूपम्, वेदनं वेदः—एकस्याद्वितीयस्य संविद्रूपस्येत्यर्थः । तस्यैकवेदस्य ब्रह्मणोऽनवगमादृगादयो वेदा बहवोऽभवन् । अत्र ऋगादिवेदास्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारं कुर्वन्तीति वेदाख्यामवापुः ।

एक वेदके—इदंरूप और अनिदंरूप (प्रत्यक्ष और परोक्षरूप वस्तु) ही वेद्य है और वेदन ही वेद है । अर्थात् उस एक अद्वितीय संविद्रूपके ज्ञान यानी वेदस्वरूप उस एक परब्रह्मको न जाननेके कारण ही ऋगादि बहुत-से वेद हो गये हैं । यहाँ ऋगादि वेद उसीकी प्राप्तिके लिये विचार करते हैं, इसलिये उन्हें 'वेद'-संज्ञा प्राप्त हो गयी है ।

अथवा, सद्भावं साधयन्तीति वेदाः, विदन्ति वेदनसाधनभूता इति वा वेदाः । अथवा, ब्रह्माधीनमात्मानं लभन्त इति वा वेदाः। ब्रह्मण आत्मतया लाभहेतव इति वा वेदाः । विद विचारणे । विद सत्तायाम् । विद ज्ञाने । विदॣ लाभे । एतेषां धातूनां विषये वर्तन्ते यस्मात् ततो वेदा इत्युक्ताः।

अथवा सद्वस्तुकी सिद्धि करते हैं, इसलिये वे वेद हैं । या जानते हैं यानी ज्ञानके साधनभूत हैं, इसलिये वेद हैं । अथवा ब्रह्मके आश्रितस्वरूप लाभ करते हैं, इसलिये वेद हैं । अथवा ब्रह्मको आत्मस्वरूपसे प्राप्त करनेमें हेतु हैं, इसलिये वेद हैं । इस प्रकार क्योंकि ये विचारार्थक विद्, सत्तार्थक विद्, ज्ञानार्थक विद् और लाभार्थक विद्—इन धातुओंके विषय होकर स्थित हैं, इसलिये ये 'वेद' कहे जाते हैं ।

तदेकवेदस्वरूपं किमिति चेत्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतेः । तस्मात् सत्यस्यैक वेदस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनवगमाद् वेदा बहवो व्याख्याताः । सर्वे वेदास्तदर्थदर्शनहेतवः, हे राजेन्द्र ! त्वमपि किमेवं ज्ञात्वा सत्ये ब्रह्मणि स्थितोऽसि ? कश्चित् पुनः सत्येऽवस्थितः प्रतिष्ठित इति ॥ ३७ ॥

उस एक वेदका स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है', 'ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय है' इन श्रुतियोंसे [उसका निश्चय होता है] । उस सत्य अर्थात् एकवेदस्वरूप ब्रह्मका ज्ञान न होनेसे ही बहुत-से वेद बतलाये गये हैं । समस्त वेद उसीके दर्शनके कारण हैं । हे राजेन्द्र ! ऐसा जानकर क्या तुम भी सत्यस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हो ? क्योंकि उस सत्यमें तो कोई-कोई ही स्थित होता है ॥ ३७ ॥

भूयो मे शृणु—

और भी मुझसे सुनो—

य एनं वेद तत् सत्यं प्राज्ञो भवति नित्यदा ।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेव प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

जो इस सत्यको जानता है, वह सर्वदा ही बड़ा ज्ञानी है । दान, अध्ययन और यज्ञ तो लोभसे ही प्रवृत्त होते हैं ॥ ३८ ॥

किमर्थम् ? नो चेत्, तत्र यद्भवति तच्छृणु—

ऐसा क्यों है ? यदि ऐसा न हो तो उस अवस्थामें जो होता है, वह सुनो—

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पा वितथाभवन् ।
ततः कर्म प्रतायेत सत्यस्यानवधारणात् ॥ ३९ ॥

जो लोग इस सत्यसे च्युत हैं, उनके संकल्प असत्य हो जाते हैं । इसीसे सत्यका ज्ञान न होनेके कारण कर्मका विस्तार किया जाता है ॥ ३९ ॥

सत्यात् स त्यादिलक्षणाद् ब्रह्मणः प्रच्यवमानानां स्वाभाविकब्रह्मभावपरित्यागेन अनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नानां संकल्पा वितथा अभवन् व्यर्था भवन्ति। स्वाभाविकसत्यसंकल्पादयो न सिध्यन्तीत्यर्थः। ततः कर्म यज्ञादिकं प्रतायेत विस्तृतं भवेत्।

तदेतत्सर्वं सत्यस्य सत्यादिलक्षणस्य ब्रह्मणोऽनवधारणाद् अनवगमात्। आत्माज्ञाननिमित्तत्वात् संसारस्य यावत्परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न विजानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणो मोमुह्यमानोऽसत्यसंकल्पः स्वर्गपश्वन्नादिहेयसाधनेषु वर्त्तत इत्यर्थः॥ ३९॥

सत्यसे अर्थात् सत्यादिरूप ब्रह्मसे च्युत हुए लोगोंके संकल्प, जिन्हें कि अपने स्वाभाविक ब्रह्मभावका त्याग कर देनेके कारण देहादि अनात्मपदार्थोंमें आत्मभाव हो गया है, वितथ—व्यर्थ हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके स्वाभाविक सत्य-संकल्पादि सिद्ध नहीं होते। तभी यज्ञादि कर्मका वितान—विस्तार होता है।

यह सब सत्य यानी सत्यादिरूप ब्रह्मके अज्ञान—न जाननेके कारण होता है; क्योंकि संसार आत्माके अज्ञानके कारण ही है, इसलिये जबतक यह जीव परमात्माको साक्षात् आत्मस्वरूपसे नहीं जानता तबतक यह त्रिविध तापसे संतप्त हो मकरादिके समान रागादि दोषोंसे इधर-उधर खींचा जाता हुआ मोहवश असत्य-संकल्प हो स्वर्ग, पशु एवं अन्न आदि हेय वस्तुओंके साधनोंमें लगा रहता है—ऐसा इसका अभिप्राय है॥ ३९॥

ब्राह्मणका लक्षण

इदानीं ब्राह्मणलक्षणमाह—

अब ब्राह्मणका लक्षण बतलाते हैं—

विद्याद् बहुपठन्तं तु बहुवागिति ब्राह्मणम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया॥ ४०॥

जो बहुत पढ़ा हुआ है, उस ब्राह्मणको तो तुम बड़ा वाग्मी जानो। तुम्हें [वास्तविक] ब्राह्मण तो उसे ही जानना चाहिये, जो सत्यसे विलग नहीं होता॥ ४०॥

बहुपठन्तम् आख्यानपञ्चमवेदाध्यायिनं। बहुवागिति विद्यात्, न साक्षाद् ब्राह्मणमिति। कस्तर्हि मुख्यो ब्राह्मणः? इति चेत्—य एव सत्यात् सत्यादिलक्षणान्नापैति न क्षरति स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवावतिष्ठते इत्यर्थः स एव ब्राह्मणस्त्वया ज्ञेयः, नेतरो यः

बहुपाठी अर्थात् जिनमें इतिहास पाँचवाँ है ऐसे सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करनेवालेको तो तुम बड़ा वाग्मी जानो—साक्षात् ब्राह्मण नहीं। यदि कहो कि मुख्य ब्राह्मण कौन है? [तो तुम्हें मुख्य ब्राह्मण तो उसे ही जानना चाहिये] जो सत्यसे—सत्यादिलक्षणोंवाले ब्रह्मसे दूर नहीं होता अर्थात् [सर्वदा] स्वाभाविक सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे ही स्थित रहता है, उसीको तुम्हें ब्राह्मण समझना चाहिये; दूसरा नहीं, जो कि

सत्यात् प्रच्युतोऽकृतार्थः सन् कर्मणि प्रवर्तते। तथा च ब्रह्मविदमेव ब्राह्मणं दर्शयति श्रुतिः—'मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः' इति 'विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति' इति च ॥ ४० ॥

सत्यसे च्युत और अकृतार्थ होकर कर्मोंमें प्रवृत्त हो रहा है। इसी प्रकार 'जो मौन और अमौनसे उपरत होकर ब्रह्मपरायण हो, वही ब्राह्मण है' तथा 'जो पापरहित, रागरहित और घृणारहित है, वह ब्राह्मण है' ये श्रुतियाँ भी ब्रह्मवेत्ताको ही ब्राह्मणरूपसे प्रदर्शित करती हैं ॥ ४० ॥

वेदवेद्य परमात्माको जाननेवालेकी गति

भवेदेतदेवं यदि तदेव ब्रह्म सिद्ध्येत्, न च सिद्ध्यति, अन्यपरत्वाद् वेदस्येति; तत्राह—

[ठीक है,] यदि वह ब्रह्म सिद्ध हो जाय तो ऐसी ही बात हो सकती है, किंतु वह तो सिद्ध ही नहीं होता; क्योंकि वेदका तात्पर्य तो अन्य (कर्मादि) में ही है; इसपर कहते हैं—

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य गता हि वेदस्य न वेद्यमार्याः ॥ ४१ ॥

हे नरश्रेष्ठ! वेद तो स्वतन्त्रतासे उसी [ब्रह्मतत्त्व] में प्रमाण हैं। अतः वेदवेत्ता आर्यजन उनका अध्ययन कर उस वेद [यानी ज्ञानस्वरूप परमात्मा] के स्वरूपको प्राप्त हो वेद्यवर्ग (प्रपञ्च) को प्राप्त नहीं होते ॥४१॥

हे द्विपदां वरिष्ठ! छन्दांसि वेदाः स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दता स्वाधीनता यथाकाममित्यर्थः। तत्र परमात्मनि भवन्ति तत्रैव प्रमाणं भवन्ति। श्रूयते च—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च।

हे नरश्रेष्ठ! छन्द यानी वेद स्वच्छन्दतासे, स्वच्छन्दता स्वाधीनताको कहते हैं, अर्थात् यथेष्टरूपसे उस परमात्मामें ही हैं अर्थात् उसीमें प्रमाण हैं। ऐसा ही 'समस्त वेद जिस पदका निरूपण करते हैं' यह श्रुति भी कहती है।

पुरुषार्थपर्यवसायित्वाद् वेदस्य तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानित्याशुचिदुःखानुविद्धत्वेन पुरुषार्थत्वाभावात् तत्स्वरूपतज्ज्ञानतत्साधनप्रतिपादकत्वेन वेदानां प्रामाण्यमित्यर्थः।

वेदका तात्पर्य पुरुषार्थमें है तथा उस (ब्रह्म) से भिन्न और सब पदार्थ अनित्य, अपवित्र और दुःखमिश्रित होनेके कारण पुरुषार्थस्वरूप नहीं हैं। अतः तात्पर्य यह है कि वेदोंका प्रामाण्य उसीके स्वरूप, उसीके ज्ञान और उसीकी प्राप्तिके साधनोंका प्रतिपादन करनेके कारण ही है।

यस्माद्वेदाः स्वच्छन्दयोगेन तत्रैव परमात्मनि प्रमाणं भवन्ति, तेन च हेतुना तान् वेदानधीत्य

क्योंकि वेद स्वच्छन्दतासे उस परमात्मामें ही प्रमाण हैं, इस कारणसे आर्य—पण्डित यानी ब्रह्मवेत्तालोग उन वेदोंका अध्ययन कर—उनका ज्ञान प्राप्त कर अर्थात्

अधिगम्य वेदान्तश्रवणादिकं कृत्वा गताः प्राप्ता वेदस्य संविद्रूपस्य परमात्मनः स्वरूपं न वेद्यं प्रपञ्चम् आर्याः पण्डिता ब्रह्मविदः ॥४१॥

वेदान्तश्रवणादि करके वेदके यानी ज्ञानस्वरूप परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं, वे वेद्य—प्रपञ्चको प्राप्त नहीं होते ॥ ४१ ॥

ब्रह्मज्ञ ही वेदज्ञ है

एवं तर्हि वेदवेद्यत्वे 'अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि,' 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिश्रुतिविरोधः प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह—

ऐसा होनेपर तो 'वह विदितसे भिन्न और अविदितसे भी परे है,' 'जहाँसे मनके सहित वाणी, उसे प्राप्त न होकर लौट आती है' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होनेका प्रसङ्ग आ जायगा—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम् ।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥ ४२ ॥

वेदोंमेंसे कोई भी [उस परमात्माको] जाननेवाला नहीं है; क्योंकि वेदके द्वारा तो न वेद (संवित्स्वरूप परमात्मा) का ज्ञान होता है और न वेद्य (दृश्यवर्ग) का ही । अतः जो वेद (संवित्स्वरूप परमात्मा) को जानता है, वही वेद्यको भी जानता है; किंतु जो वेद्यको [ही] जानता है, वह सत्यको नहीं जानता ॥ ४२ ॥

न वेदानामृगादीनां मध्ये कश्चिदपि वेदः परमात्मनो वाचामगोचरस्य संविद्रूपस्य वेदितास्ति; कस्मात् ? यस्माद् वेदेन ऋगादिरूपेण जडेन वेदं संविद्रूपं परमात्मानं न विदुः । न वेद्यम्, प्रपञ्चमपि न विदुः, संविदधीनत्वात्सर्वसिद्धेः ।

ऋगादि वेदोंमेंसे कोई भी वेद वाणीके अविषयभूत संवित्स्वरूप परमात्माको जाननेवाला नहीं है । क्यों नहीं है ?—क्योंकि ऋगादिरूप जड वेदके द्वारा ज्ञानस्वरूप परमात्माका ज्ञान नहीं होता और न वेद्य—प्रपञ्चका ही ज्ञान होता है, कारण, समस्त पदार्थोंकी सिद्धि तो ज्ञानके ही अधीन है ।

यस्मात् संविदधीना सर्वसिद्धिस्तस्माद् यो वेदं संविद्रूपं परमात्मानं वेद जानाति स च वेद वेद्यमिदं सर्वम् । तथा च श्रुतिः—'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इति । यो वेद वेद्यमिदं रूपं न स वेद न जानाति सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानम् ॥ ४२ ॥

[इस प्रकार] क्योंकि समस्त पदार्थोंकी सिद्धि ज्ञानके ही अधीन है, इसलिये जो कोई ज्ञानस्वरूप परमात्माको जानता है, वही वेद्य—इस समस्त प्रपञ्चको भी जानता है । 'अरे मैत्रेयि ! आत्माके ही दर्शन, श्रवण, ज्ञान अथवा विज्ञानसे यह सब जाना जाता है' यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है । और जो वेद्य यानी इस रूपको जानता है, वह सत्य—सत्यादिस्वरूप परमात्माको नहीं जानता ॥ ४२ ॥

नन्वेवं तर्हि 'वेदेन वेदं न विदुर्न वेद्यम्' इति वदता अनात्मविदः प्रपञ्चासिद्धिरेवेत्युक्तं भवतीत्याशङ्क्याह—

तब इस प्रकार तो 'वेदसे न तो वेद (परमात्मा) का ज्ञान होता है और न वेद्यका ही' ऐसा कहनेवाला पुरुष अनात्मवेत्ताके लिये प्रपञ्चकी असिद्धि ही बतलाता है—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः ।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ४३ ॥

जो [ऋगादि] वेदोंको जानता है, वह तो केवल वेद्यवर्गको ही जानता है; उस परमात्माको तो न वेदवेत्ता ही जानते हैं और न वेद ही । तथापि जो ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) वेदवेत्ता होते हैं, वे वेदके द्वारा ज्ञानस्वरूप परमात्माको भी जान लेते हैं ॥ ४३ ॥

यो वेद जानाति ऋगादीन् वेदान् स च वेद वेद्यं सोऽप्यनात्मविदेव भिन्नेन संवेदनेन वेद्यं प्रपञ्चं वेद । नन्वेवं चेत् तर्हि वेद्यवत् परमात्मानमपि विजानीयादित्याशङ्क्याह—न तं परमात्मानं वाचामगोचरं विदुर्वेदविदः, न वेदाः, वेदा अपि न तं विदुः, न तं विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः । कथंचिल्लक्षणया बोधयन्तीति भावः ।

जो ऋगादि वेदोंको जानता है, वह तो वेद्यवर्गको ही जानता है । वह भी अनात्मज्ञ ही है तथा भेदज्ञानके द्वारा वेद्य—प्रपञ्चको ही जानता है । तब इस प्रकार तो वेद्यवर्गके समान वह परमात्माको भी जान ही सकता है—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—वाणीके अविषयभूत उस परमात्माको न तो वेदवेत्ता ही जानते हैं और न वेद ही अर्थात् वेद भी उसे विषय नहीं कर सकते । किसी प्रकार लक्षणावृत्तिद्वारा उसका बोध कराते हैं—ऐसा इसका भाव है ।

नन्वेवं तर्हि कथमौपनिषदं ब्रह्म स्यादित्याशङ्क्याह—'तथापि वेदेन विदन्ति वेदम्' । यद्यपि वागाद्यविषयं ब्रह्म तथापि वेदेन ऋगादिना विदन्ति विजानन्ति वेदं संविद्रूपं परमात्मानम् । के ते ? ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति । वेदानां वेदप्रतिपादनप्रकारं जानन्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

तो फिर ऐसी अवस्थामें ब्रह्म उपनिषद्वेद्य कैसे हो सकता है ?—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—'तथापि वेदेन विदन्ति वेदम्'—यद्यपि ब्रह्म वागादि इन्द्रियोंका अविषय है तथापि ऋगादि वेदके द्वारा वेद—ज्ञानस्वरूप परमात्माको जानते हैं ? वे जाननेवाले कौन हैं ?—जो ब्राह्मण वेदवेत्ता अर्थात् वेदोंके वेद (परमात्मतत्त्व) के प्रतिपादनका प्रकार जानते हैं ॥ ४३ ॥

वेद तटस्थवृत्तिसे परमात्माका बोध कराता है

कथं तर्ह्यविषयमेव ब्रह्म वेदाः प्रतिपादयन्तीत्याशङ्क्याह—

तो फिर, जो ब्रह्म किसीका भी विषय नहीं है, उसका वेद किस प्रकार प्रतिपादन करते हैं ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

यामांशभागस्य तथा हि वेदा यथा हि शाखा च महीरुहस्य ।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन् हि नित्ये परमात्मनोऽर्थे ॥ ४४ ॥

जिस प्रकार वृक्षकी शाखा चन्द्रकलाके दर्शनमें हेतु होती है, उसी प्रकार वेद भी उस अविनाशी परमात्मतत्त्वके ज्ञानमें हेतु हैं—ऐसा शास्त्र कहते हैं ॥ ४४ ॥

यामांशभागस्य, 'त्रियामश्चन्द्रः' इति श्रुतेः, चन्द्रांशभागस्य । प्रतिपच्चन्द्रकलादर्शने यथा महीरुहस्य वृक्षस्य शाखा हेतुर्भवति । तथा हि वेदास्तस्यैव परमात्मनः स्वरूपभूते संवेदने नित्येऽविनाशिन्यर्थे परमपुरुषार्थस्वरूपे पूर्णानन्दरूपे हेतवो भवन्ति । न पुनः साक्षाद्वाचामगोचरं परमात्मानं प्रतिपादयन्तीत्येवमामनन्ति ॥ ४४ ॥

'त्रियाम चन्द्रमाको कहते हैं' इस श्रुतिके अनुसार जिस प्रकार यामांशभाग—चन्द्रांशभाग अर्थात् प्रतिपदाकी चन्द्रकलाके दर्शनमें वृक्षकी शाखा हेतु होती है, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपभूत ज्ञानमें, जो नित्य-अविनाशी तत्त्व, परमपुरुषार्थस्वरूप तथा पूर्णानन्दमय है, वेद कारण हैं। वे वाणीके अविषयभूत परमात्माका साक्षात् प्रतिपादन नहीं करते—ऐसा शास्त्र कहते हैं ॥ ४४ ॥

वेदार्थका ज्ञाता ही सच्चा ब्राह्मण है

य एवं वेदानां वेदरूपात्मप्रतिपादनप्रकारमवगम्य व्याचष्टे, सोऽपि ब्राह्मण इत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि जो इस प्रकार वेदोंका वेदस्वरूप आत्माके प्रतिपादनका प्रकार समझकर उनकी व्याख्या करता है, वही ब्राह्मण है—

अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणम् ।
एवं योऽभिविजानाति स जानाति परं हि तत् ॥ ४५ ॥

जो वेदोंकी [यथोचित] व्याख्या करनेवाला है, उसे मैं कुशल ब्राह्मण समझता हूँ । जो इस प्रकार जानता है, वही उस परमात्माको जानता है ॥ ४५ ॥

यो वेदप्रतिपादनप्रकारं व्याचष्टे तमाख्यातारं विचक्षणं ब्राह्मणमभिजानामि । ननु बाल्यपाण्डित्यादिकं निर्विद्यावस्थितमेव ब्राह्मणं ब्रूते श्रुतिः । तथा हि 'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् तथा बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिर्भवति । मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इति ।

जो वेदोंके प्रतिपादनकी शैलीकी व्याख्या करता है, उस व्याख्याताको मैं कुशल ब्राह्मण समझता हूँ; किंतु श्रुति तो जो बाल्य और पाण्डित्यका त्याग करके स्थित है, उसीको ब्राह्मण बतलाती है; जैसा कि कहा है—'ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) को पाण्डित्यका त्याग करके बाल्यभावसे स्थित होना चाहिये और फिर बाल्य तथा पाण्डित्यसे निवृत्त होकर वह मुनि हो जाता है तथा मौन और अमौनका भी त्याग करके ब्रह्मनिष्ठ होता है ।' फिर

कथमुच्यते—अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणमिति ? तत्राह—एवं वेदानां वेदनरूपात्मप्रतिपादनप्रकारं मयोक्तं योऽभिविजानाति स जानाति परं हि तत्परं ब्रह्म जानात्येव। यो हि पाण्डित्यं निर्विद्य स्थितः स क्षिप्रं बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥

यहाँ ऐसा कैसे कहते हैं कि मैं वेदोंकी व्याख्या करनेवालेको विचक्षण ब्राह्मण समझता हूँ ? इसपर कहते हैं—इस प्रकार जो वेदोंका मेरा बताया हुआ ज्ञानस्वरूप आत्माके प्रतिपादनका प्रकार जानता है, वह उस परब्रह्मको भी जानता ही है। तात्पर्य यह है कि जो [कोरे] पाण्डित्यसे निवृत्त होकर स्थित है, वह शीघ्र ही बाल्यादिसे भी निर्विण्ण होकर ब्राह्मण हो जाता है ॥ ४५ ॥

आत्मकामीको विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये

यस्मात्सत्यनिष्ठस्यैव ब्राह्मणत्वप्रसिद्धिस्तस्माद्विषयपरो न भवेदित्याह—

क्योंकि ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति सत्यनिष्ठको ही होती है, अतः यह बतलाते हैं कि विषयपरायण नहीं होना चाहिये—

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कदाचन।
अविचिन्वन्निमं वेदे ततः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ४६ ॥

साधकको इस (आत्मतत्त्व) के प्रतिपक्षियों (विषयों) के अनुसंधानमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इनका अनुसंधान न करनेपर फिर वह वेदमें उस प्रभुका दर्शन कर पाता है ॥ ४६ ॥

'विषयाश्चेन्द्रियाण्येव देहोऽहंकार एव च। बाह्या आभ्यन्तरा घोराः शत्रवो योगिनः स्मृताः' इति दर्शनान्नस्य आत्मनः प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्षभूतेषु देहेन्द्रियशब्दादिविषयेषु पर्येषणं परित एषणं, गच्छेत्, विषयान्वेषणपरो न भवेदित्यर्थः। अविचिन्वन् विषयसंचयमकुर्वन्निमं प्रत्यगात्मानं वेदे उपनिषत्सु तत्त्वमस्यादिवाक्येषु, ततः पश्चात्पश्यति तं प्रभुं परमात्मानम् आत्मत्वेन जानातीत्यर्थः।

'विषय, इन्द्रियाँ, देह और अहंकार ही इस योगीके बाह्य एवं आन्तरिक भयंकर शत्रु माने गये हैं' ऐसा देखे जानेके कारण साधकको इस (आत्मतत्त्व) के प्रत्यर्थी—प्रतिपक्षभूत देह, इन्द्रिय एवं शब्दादि विषयोंका पर्येषण—परीक्षण नहीं करना चाहिये; अर्थात् उसे विषयानुसंधानमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। 'अविचिन्वन्'—विषयसंचय न करनेसे वह वेद यानी उपनिषदोंमें—'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें उस प्रत्यगात्मा प्रभु यानी परमात्माको आत्मस्वरूपसे जान लेता है।

अथवा, नास्यात्मनः पर्येषणम् अन्वेषणं गच्छेत्। प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्षभूतदेहेन्द्रियादिषु देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः। अविचिन्वन् देहेन्द्रियतद्धर्माना-

अथवा (इसका यह भी अर्थ हो सकता है—) इस आत्माका प्रत्यर्थियों—प्रतिपक्षभूत देह एवं इन्द्रियादिमें पर्येषण—अन्वेषण नहीं करना चाहिये; अर्थात् देह, इन्द्रिय और उनके धर्मोंको आत्मभावसे ग्रहण नहीं करना चाहिये। देह, इन्द्रिय और उनके धर्मोंका अनु-

त्मत्वेनासंचिन्वन् तत्साक्षिणमात्मानमेव प्रतिपद्यमानस्तत्त्वंपदार्थशोधनानन्तरमिमं प्रमात्रादिसाक्षिणं परमात्मानं पश्यति। देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेनाप्रतिपद्यमानस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैः परमात्मानमात्मत्वेन पश्यतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

संधान न करनेसे अर्थात् उन्हें आत्मस्वरूपसे अनुभव न करनेसे उनके साक्षीको ही आत्मस्वरूपसे जानते हुए वह तत् और त्वंपदार्थके शोधनके अनन्तर इस प्रमाता आदिके साक्षी परमात्माका साक्षात्कार करता है। तात्पर्य यह है कि देह, इन्द्रिय और उनके धर्मोंको आत्मभावसे न देखते हुए वह 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे परमात्माको आत्मभावसे अनुभव करता है ॥ ४६ ॥

ब्रह्मप्राप्तिका क्रम

यस्मात्सर्वविषयपरित्यागेनैवात्मदर्शनसिद्धिः, तस्मात्—

क्योंकि समस्त विषयोंका सर्वथा त्याग करनेसे ही आत्मदर्शन हो सकता है, इसलिये—

तूष्णींभूत उपासीत न चेच्छेन्मनसा अपि।
अभ्यावर्त्तेत ब्रह्मास्मै बह्वनन्तरमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

सर्वकर्मसंन्यास करके उपासना करे। मनसे भी (किसी विषयकी) इच्छा न करे। (ऐसा होनेपर) ब्रह्म इसके अभिमुख हो जायगा और तत्पश्चात् उसे भूमाकी प्राप्ति हो जायगी ॥ ४७ ॥

तूष्णींभूतः सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा स्वात्मव्यतिरिक्तं सर्वं परित्यज्य केवलो भूत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपासीत। न चेच्छेन्मनसा अपि विषयेच्छां न कुर्यात्।

'तूष्णींभूतः' अर्थात् सर्वकर्मसंन्यास करके—आत्मासे भिन्न और सभीको त्यागकर केवली (एकत्वमें स्थित) हो अपने आत्मलोककी ही उपासना करे तथा इच्छा न करे अर्थात् मनसे भी विषयोंकी अभिलाषा न करे।

यस्तूष्णींभूतो विषयोपसंहारं कृत्वा स्वात्मानमेव लोकमुपास्ते, अस्मै तूष्णींभूताय ब्राह्मणाय ब्रह्म अपूर्वादिलक्षणमभ्यावर्तेत—अभिमुखीभवेदित्यर्थः। श्रूयते च—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' इति। अनन्तरमाविर्भूतस्वरूपः सन् बहु भूमानं तमसः पारं परमात्मानमाप्नुयादित्यर्थः ॥ ४७ ॥

जो पुरुष तूष्णींभूत हो सम्पूर्ण विषयोंका उपसंहार कर स्वात्मलोककी ही उपासना करता है, उस तूष्णींभूत ब्राह्मणके अपूर्व-अनपरादि लक्षणोंसे लक्षित ब्रह्म अभ्यावर्तित अर्थात् अभिमुख हो जाता है। इस विषयमें 'जिसे यह (आत्मा) वरण करता है, उसीको यह प्राप्त हो सकता है, उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है' ऐसी श्रुति भी है। इसके पश्चात् स्वरूपसाक्षात्कार होनेपर यह बहु—भूमा यानी अज्ञानातीत परमात्माको प्राप्त कर लेता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४७ ॥

ब्रह्मज्ञ ही मुनि है

मुनिरप्येष एवेत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि यही मुनि भी है—

मौनाद्धि मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः ।
अक्षरं तं तु यो वेद स मुनिश्रेष्ठ उच्यते ॥ ४८ ॥

मौनके द्वारा ही [साधक] मुनि होता है, जंगलमें रहनेसे वह मुनि नहीं होता । जो पुरुष उस अविनाशी ब्रह्मको जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहा जाता है ॥ ४८ ॥

मौनात्पूर्वोक्तात्तूष्णींभावादेव मुनिर्भवति न पुनररण्यवासमात्रान्मुनिर्भवति । तेषामपि तूष्णींभूतानां मध्ये यस्तु पुनरक्षरमविनाशिनं तं परमात्मानं वेद 'अयमहमस्मि' इति साक्षाज्जानाति स मुनिश्रेष्ठ उच्यते । श्रूयते च—'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' इति ॥ ४८ ॥

मौन अर्थात् पूर्वोक्त तूष्णींभावसे ही [साधक] मुनि होता है, केवल जंगलमें रहनेसे ही कोई मुनि नहीं होता । उन तूष्णींभूतोंमें भी जो उस अक्षर यानी अविनाशी परमात्माको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात् रूपसे जानता है, वह श्रेष्ठ मुनि कहा जाता है । श्रुति भी कहती है—'इसीको जानकर मुनि हो जाता है' इत्यादि ॥ ४८ ॥

ब्रह्मज्ञ ही वैयाकरण है

वैयाकरणोऽप्येष एवेत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि यही वैयाकरण भी है—

सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते ।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ ४९ ॥

सब प्रकारके अर्थोंका व्याकरण (विवेचन) करनेके कारण ही किसी पुरुषको वैयाकरण कहा जाता है । [अक्षर ब्रह्मसे जो समस्त दृश्य प्रपञ्चकी अभिव्यक्ति होती है] यही मूल व्याकरण है । यह विद्वान् भी उस (ब्रह्म) का व्याकरण (विवेचन) करता है, इसलिये यह भी वैयाकरण है ॥ ४९ ॥

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते, न पुनः शब्दैकदेशव्याकरणाद् वैयाकरणो भवति । भवतु सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरणत्वं ततः किमिति चेत्तत्राह—तन्मूलतो व्याकरणम् ।

सब प्रकारके अर्थोंका व्याकरण करनेसे ही कोई पुरुष वैयाकरण कहा जाता है—शब्दरूप एकदेशका व्याकरण करनेसे ही कोई वैयाकरण नहीं हो सकता । सब प्रकारके अर्थोंका व्याकरण करनेसे ही वैयाकरणत्व होता है तो होने दो—इससे क्या ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—वही मूलतः व्याकरण है अर्थात्

पूर्वोक्तादक्षराद्धि सर्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य व्याकरणम् । श्रूयते च—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति । तस्माद् ब्रह्मण एव साक्षाद्वैयाकरणत्वम् । 'व्याकरोतीति तत्तथा' असावपि विद्वान् तद् ब्रह्म तथैव व्याकरोतीति वैयाकरणः ।४९।

पूर्वोक्त अक्षरसे ही समस्त नामरूपप्रपञ्चका विभाग होता है । श्रुति भी कहती है—'इस जीवरूपसे अनुप्रविष्ट होकर मैं नाम और रूपोंका विभाग करता हूँ ।' अतः साक्षात् वैयाकरणत्व ब्रह्मका ही है । 'व्याकरोतीति तत्तथा'—यह विद्वान् भी उस ब्रह्मका इसी प्रकार व्याकरण (विवेचन) करता है, इसलिये वह 'वैयाकरण' है ॥ ४९ ॥

ब्रह्मज्ञ ही सर्वज्ञ है

सर्वज्ञोऽप्येष एवेत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि यही सर्वज्ञ भी है—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।
सत्ये वै ब्रह्मणि तिष्ठंस्तद्विद्वान् सर्वविद्भवेत् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देखनेवाला पुरुष ही सर्वदर्शी होता है । अतः सत्यस्वरूप ब्रह्ममें स्थित होकर उसका साक्षात्कार करनेवाला विद्वान् सर्वदर्शी होता है ॥ ५० ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां यः प्रत्यक्षेण भूरादीन् लोकान् पश्यति स सर्वदर्शी नरो भवेत् सर्वरूपं परमात्मानं पश्यति । असौ पुनः सत्ये सत्यादिलक्षणे ब्रह्मणि तिष्ठन्मनः समादधाति । तद्विद्वान् सत्यादिलक्षणं ब्रह्म विद्वानात्मत्वेन जानन् सर्वविद् भवेत् सर्वं जानातीत्यर्थः । तस्मादेष एव साक्षात् सर्वज्ञो न अनात्ममात्रदर्शी ॥ ५० ॥

लोकोंका प्रत्यक्षदर्शी अर्थात् जो भूः आदि लोकोंको प्रत्यक्षरूपसे देखता है, वह पुरुष सर्वदर्शी होता है; वह सर्वरूप परमात्माको देखता है । यह [विद्वान्] सत्य—सत्यादि लक्षणोंसे लक्षित ब्रह्ममें स्थित हो मनको समाहित करता है । अतः 'तद्विद्वान्'—सत्यादिलक्षण ब्रह्मका ज्ञाता यानी उसे आत्मभावसे जाननेवाला पुरुष सर्ववित् होता है अर्थात् वह सबको जानता है, अतः वही साक्षात् सर्वज्ञ है । जो केवल अनात्माको देखनेवाला है, वह नहीं ॥ ५० ॥

ज्ञानादिगुणयुक्त पुरुष ही ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकता है

'यस्त्वेतेभ्यः' इत्यादिना उक्तमेवार्थं पुनरपि दर्शयति अवश्यकर्तव्यत्वप्रदर्शनार्थम्—

'यस्त्वेतेभ्यः' (२ । २०) इत्यादि श्लोकोंसे कहे हुए अर्थको ही उसकी अवश्य-कर्तव्यता दिखलानेके लिये पुनः प्रदर्शित करते हैं—

ज्ञानादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।
वेदानां चारपूर्वेण चैतद्विद्वन् ब्रवीमि ते ॥ ५१ ॥

हे क्षत्रिय ! इसी प्रकार ज्ञानादिमें स्थित हुआ पुरुष भी वेदान्तश्रवणपूर्वक ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है । हे विद्वन् ! यही बात अब मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ज्ञानादिषु 'ज्ञानं च' (२ । १९) इत्यादिना पूर्वोक्तेषु स्थितोऽप्येवं यथा सत्ये तिष्ठन् ब्रह्म पश्यति, एवमेव ब्रह्म पश्यति । वेदानां चारपूर्वेण वेदान्तश्रवणपूर्वकमित्यर्थः । अथवा गुणान्तर-विधानमेतत् । ज्ञानादिषु स्थितोऽपि न केवलं तावन्मात्रेण पश्यति, अपि तु एवमेव वक्ष्यमाण-प्रकारेण वेदान्तविचारपूर्वेण वेदान्तश्रवणादिपूर्वकमेव पश्यति ब्रह्म । एतद्वेदान्तानां विचारप्रकारं हे विद्वन्! ब्रवीमि ते वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥ ५१ ॥

'ज्ञानं च' (२ । १९) इत्यादि श्लोकोंसे पहले बतलाये हुए ज्ञानादि साधनोंमें स्थित हुआ पुरुष भी वेदोंके चारपूर्वक अर्थात् वेदान्तश्रवणपूर्वक ब्रह्मका इसी प्रकार साक्षात्कार कर लेता है जैसे सत्य (सत्यस्वरूप ब्रह्म) में स्थित हुआ पुरुष । अथवा यह गुणान्तरका विधान भी हो सकता है । [तथा इसका यह आशय होगा कि] ज्ञानादिमें स्थित हुआ पुरुष भी केवल उतनेहीसे ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर सकता, अपितु इसी प्रकार यानी आगे कहे जानेवाले प्रकारसे वेदान्त-विचारपूर्वक अर्थात् वेदान्तश्रवणादिपूर्वक ही ब्रह्मका साक्षात्कार करता है । हे विद्वन् ! मैं तुम्हें यह वेदान्तों-का चार विचार-प्रकार बतलाता हूँ अर्थात् अब इसीका वर्णन करूँगा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ श्रीसनत्सुजातीयभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

ब्रह्मनिरूपणके लिये धृतराष्ट्रकी प्रार्थना

इदानीं ब्रह्मचर्यादिसाधनानन्तरं तत्प्राप्यं च ब्रह्म प्रतिपादयितुं तृतीयचतुर्थावध्यायावारभ्येते । तत्र तावद् ब्रह्मचर्यादिसाधनं श्रुत्वा तद् ब्रह्मवेदनाकाङ्क्षी प्राह धृतराष्ट्रः—

अब ब्रह्मचर्यादि साधनोंके अनन्तर उनसे प्राप्त होने-वाले ब्रह्मका प्रतिपादन करनेके लिये तीसरे और चौथे अध्यायोंका आरम्भ किया जाता है । उस समय ब्रह्म-चर्यादि साधनोंको सुनकर ब्रह्मको जाननेके इच्छुक होकर राजा धृतराष्ट्रने पूछा——

धृतराष्ट्र उवाच—

सनत्सुजात यदिमां परार्थां ब्राह्मीं वाचं वदसि हि विश्वरूपाम् ।
परां हि कार्येषु सुदुर्लभां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यमेवं कुमार ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी ! क्योंकि आप ये उत्कृष्ट अर्थसमन्वित नाना प्रकारकी ब्रह्मसम्बन्धिनी बातें कह रहे हैं, अतः जिसका कार्यवर्गमें प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, वह अत्युत्तम बात मुझे सुनाइये । हे कुमार ! [आपके प्रति] ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ १ ॥

हे सनत्सुजात ! यद् यस्मादिमां परार्थाम् उत्कृष्टार्थां ब्राह्मीं ब्रह्मसम्बन्धिनीं वाचं वदसि हि विश्वरूपां नानारूपां पराम् उत्तमां कार्येषु कार्यवर्गेषु प्रपञ्चेषु सुदुर्लभां श्रवणायाप्यशक्यां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यम् एवंभूतं कुमार, यस्मात्त्वं ब्राह्मीं वाचं परमपुरुषार्थ-साधनभूतां सुदुर्लभां वदसि तस्मात्त्वमेव वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

हे सनत्सुजातजी ! क्योंकि आप ये परार्थ—उत्कृष्ट अर्थवाली ब्राह्मी—ब्रह्मसम्बन्धिनी विश्वरूपा—नाना प्रकारकी बातें कह रहे हैं, अतः जो अत्युत्कृष्ट और कार्यवर्ग यानी प्रपञ्चमें अत्यन्त दुर्लभ है—जिसका सुननेके लिये भी मिलना कठिन है, वह बात मुझसे कहिये। हे कुमार ! आपके प्रति मेरी ऐसी प्रार्थना है। क्योंकि आप परमपुरुषार्थकी साधनभूत अत्यन्त दुर्लभ बातें कर रहे हैं, इसलिये आप ही ऐसी बात सुनानेमें समर्थ हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मविद्याका मूल है

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छस्यभिषङ्गेण राजन्।
बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—हे राजन् ! जिसके विषयमें तुम आग्रहपूर्वक पूछ रहे हो, वह ब्रह्म उतावली करनेवाले पुरुषको नहीं मिल सकता। जिसका सम्यक् विचार मनके बुद्धिमें लीन होनेपर ही हो सकता है, वह विद्या तो ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त हो सकती है ॥ २ ॥

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन पुरुषेण लभ्यं यद् ब्रह्म मां पृच्छस्यभिषङ्गेण राजन्। कथं तर्हि लभ्यमित्याह—बुद्धावध्यवसायात्मिकायां प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा, यदा पुनः संकल्प-विकल्पात्मकं मनो विषयेभ्यः परावृत्य स्वात्मन्येव निश्चलं भवतीत्यर्थः। येयं बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या सा विद्या ब्रह्मचर्येण वक्ष्यमाणेन लभ्या ।२।

हे राजन् ! जिसके विषयमें तुम आग्रहपूर्वक पूछते हो, वह ब्रह्म उतावली करनेवाले पुरुषको नहीं मिल सकता। तो फिर कैसे मिल सकता है ? इसपर कहते हैं—निश्चयात्मिका बुद्धिमें मनके लीन हो जानेपर ही उस विद्याका प्रकृष्टतया चिन्तन किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय संकल्प-विकल्पात्मक मन विषयोंसे निवृत्त होकर अपने आपमें ही निश्चल हो जाता है [उसी समय उसकी उपलब्धि होती है]। बुद्धिमें मनके लीन हो जानेपर जिस विद्याका प्रकृष्टतया चिन्तन किया जाता है, उसकी प्राप्ति आगे कहे जानेवाले ब्रह्मचर्यसे हो सकती है ॥ २ ॥

किं च—

और—

आद्यां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः।
यां प्राप्यैनं मर्त्यभावं त्यजन्ति या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ३ ॥

क्योंकि तुम सत्यस्वरूपा आदिविद्याके विषयमें ही कह (प्रश्न कर) रहे हो [अतः वह तो उतावलापन न करके ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न होनेपर ही मिल सकती है], [वह विद्या कैसी है ?—] जो सत्पुरुषोंको ब्रह्मचर्यके द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, जिसे प्राप्त करके लोग इस मर्त्यभावको त्याग देते हैं और जो विद्या सर्वदा गुरुद्वारा वृद्धिको प्राप्त हुए पुरुषोंमें ही रहती है ॥ ३ ॥

आद्यां सर्वादिभूतब्रह्मविषयां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां परमार्थरूपां मे ब्रूहीति। यद्वा, आद्याम् अकार्यभूताम् असत्यप्रपञ्चाविषयां विद्यां वदसि तस्मादत्वरमाणेन ब्रह्मचर्यादिसाधनोपेतेन उपसंहृतान्तःकरणेनैव लभ्येत्यर्थः। या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः। यां प्राप्य एनं मर्त्यभावं त्यजन्ति। या वै विद्या गुरुवृद्धेषु गुरुणा विद्याप्रदानादिना वर्द्धितेषु शिष्येषु नित्या नियता ॥ ३ ॥

क्योंकि तुम आद्या—सबके आदिभूत ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली विद्याके विषयमें ही कहते हो कि उस सत्यरूपा—परमार्थभूता विद्याका मेरे प्रति वर्णन करो, या यह कह सकते हैं कि तुम आद्या—अकार्यभूता अर्थात् असत्य प्रपञ्चसे सम्बन्ध न रखनेवाली विद्याके विषयमें कह रहे हो, अतः वह तो उतावलापन न करनेवाले, ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न तथा जिसने अन्तःकरणको शान्त कर लिया है, उस पुरुषको ही प्राप्त हो सकती है। [वह विद्या कैसी है ?—] जो सत्पुरुषोंको ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होती है, जिसे प्राप्त करके पुरुष इस मर्त्यभावको त्याग देते हैं और जो विद्या गुरुवृद्धोंमें यानी गुरुके द्वारा विद्यादानादिसे वृद्धिको प्राप्त कराये हुए शिष्योंमें नियत है ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्य क्या है ?

एवमुक्ते ब्रह्मचर्यविज्ञानायाह धृतराष्ट्रः—

इस प्रकार कहे जानेपर धृतराष्ट्रने ब्रह्मचर्यविज्ञानके लिये प्रार्थना की—

धृतराष्ट्र उवाच—

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा।
तत्कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद्विद्वन् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—हे विद्वन्! जिस विद्याका ब्रह्मचर्यके द्वारा ही शीघ्र ज्ञान हो सकता है, वह ब्रह्मचर्य कैसा है ? वह मुझे बतलाइये ॥ ४ ॥

या विद्या ब्रह्मचर्येण वेदितुं शक्या तत्साधनभूतं ब्रह्मचर्यं कथं स्यादेतद् ब्रह्मचर्यं विद्वन्! ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

जिस विद्याका ज्ञान ब्रह्मचर्यसे हो सकता है, वह उसका साधनभूत ब्रह्मचर्य कैसा है। हे विद्वन्! उस ब्रह्मचर्यका मेरे प्रति वर्णन कीजिये ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यका विवरण

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः— | इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥ ५ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—जो लोग इस लोकमें आचार्ययोनिमें प्रवेशकर उसके गर्भ होकर ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, वे इस लोकमें तो शास्त्रकार होते हैं और देह छोड़नेपर परमसत्यको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य आचार्यसमीपं गत्वेत्यर्थः । भूत्वा गर्भम् उपसदनादिना शिष्या भूत्वा ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषादिकं चरन्ति कुर्वन्ति, इहैवास्मिन् लोके ते शास्त्रकाराः शास्त्रकर्तारः पण्डिता भवन्ति । ततो बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणा भूत्वा आरब्धकर्मक्षये विहाय देहं परमं यान्ति सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥५॥

जो लोग यहाँ आचार्ययोनिमें प्रवेश कर अर्थात् आचार्यके समीप जा उनके गर्भ हो यानी उपसत्ति आदिके द्वारा उनके शिष्य हो ब्रह्मचर्य अर्थात् गुरुशुश्रूषादिका आचरण करते हैं, वे यहीं—इस लोकमें ही शास्त्रकार—शास्त्रकर्ता अर्थात् पण्डित होते हैं और फिर बाल्यादि-अवस्थाओंसे उपरत हो ब्रह्मनिष्ठ हुए, प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर इस देहका त्याग कर परम सत्य यानी सत्यादिलक्षण परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

किंच— | तथा

अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीं स्थितिमनुतितिक्षमाणाः ।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहान्मुञ्जादिषीकामिव धीरभावात् ॥ ६ ॥

इस लोकमें वे समस्त कामनाओंको जीत लेते हैं एवं निरन्तर ब्राह्मी स्थितिको सहन करते हुए वे धैर्यपूर्वक मूँजसे सींकके समान देहसे आत्माको पृथक् निकाल लेते हैं [अर्थात् देहसे आत्माका विवेक कर लेते हैं] ॥६॥

अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीमेव स्थितिं ब्रह्मण्येव स्थितिम् अनुतितिक्षमाणा अनुदिनं क्षममाणास्ते आत्मानं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं चिन्मात्रं निर्हरन्ति पृथक् कुर्वन्ति । किमिव ? मुञ्जादिषीकामिव । यथा मुञ्जादिषीकामन्तःस्थां निर्हरन्ति, एवं कोशपञ्चकेभ्यो निष्कृष्य

वे इस लोकमें कामनाओंको जीत लेते हैं तथा ब्राह्मी स्थितिको—जो स्थिति ब्रह्ममें ही है, उसे निरन्तर सहन करते हुए वे अपनेको देह और इन्द्रियादिसे निकालकर उनके साक्षीभूत चिन्मात्र आत्माको अलग कर लेते हैं । किसके समान अलग कर लेते हैं ?—मूँजसे सींकके समान । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मूँजमेंसे उसके भीतर स्थित सींकको निकाल लेते हैं, उसी प्रकार

सर्वात्मानं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । केन ? धीरभावाद् धैर्येण । श्रूयते च कठवल्लीषु—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां
धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतम् ॥

इति ॥ ६ ॥

पञ्चकोशोंसे निकालकर सर्वात्माको प्राप्त कर लेते हैं । किस प्रकार निकाल लेते हैं ?—धीरभावसे अर्थात् धैर्यपूर्वक । जैसा कि कठवल्लियोंमें सुना भी जाता है—'अंगुष्ठपरिमाणमात्र अन्तर्यामी पुरुष सर्वदा समस्त जीवोंके हृदयमें स्थित है । उसे मूँजसे सींकके समान धैर्यपूर्वक अपने शरीरसे पृथक् करे; उसे शुद्ध और अमृत जाने' इत्यादि ॥ ६ ॥

आचार्यकी महिमा

'आचार्ययोनिमिह' इत्यत्र आचार्यस्य योनित्वं दर्शितम् । तत्कथं मातापितृव्यतिरेकेण आचार्यस्य योनित्वमित्याशङ्क्य स एव साक्षाज्जनयितेत्याह—

'आचार्ययोनिमिह' इत्यादि श्लोकमें आचार्यका योनित्व प्रदर्शित किया गया है । सो माता-पितासे भिन्न आचार्यका योनित्व किस प्रकार है ? ऐसी आशङ्का करके यह बतलाते हैं कि वह (आचार्य) ही साक्षात् जन्मदाता है—

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।
आचार्यतस्तु यज्जन्म तत्सत्यं वै तथामृतम् ॥ ७ ॥

हे भरतनन्दन ! इस नश्वर शरीरको तो ये माता-पिता ही उत्पन्न करते हैं; परंतु आचार्यसे इसका जो जन्म होता है, वह तो निश्चय ही सत्य और अमृत है ॥ ७ ॥

शरीरमिहास्य तौ मातापितरौ कुरुतः, नात्मानं स्वरूपेण जनयतः । यदिदं देहद्वयात्मना जन्म तदसत्यम्, आचार्यतस्तु यदिदं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना जन्म तत्सत्यं परमार्थभूतम् । तथैवामृतं विनाशवर्जितम् । तस्मात्स एव जनयितेत्यर्थः । श्रूयते च प्रश्नोपनिषदि—'त्वं हि नः पिता यो ऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' इति । तथा चाहापस्तम्बः—'स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म शरीरमेव मातापितरौ जनयतः' इति ॥ ७ ॥

इस लोकमें शरीरको तो इसके ये माता-पिता ही उत्पन्न करते हैं, वे आत्माको स्वरूपसे जन्म नहीं देते । आत्माका जो यह स्थूल-सूक्ष्म द्विविध देहरूपसे उत्पन्न होना है, वह मिथ्या ही है; किंतु आचार्यसे जो यह सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे जन्म लेना है, वह तो सत्य—परमार्थरूप और अमृत—विनाशरहित ही है । अतः तात्पर्य यह है कि वही [वास्तविक] जन्मदाता है । प्रश्नोपनिषद्में ऐसी श्रुति भी है—'आप ही हमारे पिता हैं, जिन्होंने कि हमें अविद्याके उस पार उतार दिया है ।' तथा आपस्तम्ब ऋषि भी कहते हैं—'वह (आचार्य) तो उसे विद्याके द्वारा जन्म प्रदान करता है, अतः वह [इसका] श्रेष्ठ जन्म है । माता-पिता तो शरीरको ही उत्पन्न करते हैं' ॥ ७ ॥

यस्मादाचार्याधीना परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्—

क्योंकि परमपुरुषार्थकी सिद्धि आचार्यके ही अधीन है, इसलिये—

स आवृणोत्यमृतं सम्प्रयच्छंस्तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ।
गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेच्च सदाप्रमत्तः ॥ ८ ॥

वह अमृत दान करके परिपूर्ण कर देता है; अतः उसके उपकारको जानकर कभी उससे द्रोह न करे । शिष्यको चाहिये कि सर्वदा ही गुरुका अभिवादन करे और नित्य सावधान रहकर स्वाध्यायमें प्रवृत्त रहे ॥ ८ ॥

स आवृणोति आपूरयति अमृतं पूर्णानन्दं ब्रह्म आत्मत्वेन सम्प्रयच्छन्, तस्मै आचार्याय न द्रुह्येद् द्रोहं नाचरेत् । तथा च श्रुतिः—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥इति॥

तथा चापस्तम्बः—'तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन । स हि विद्यातस्तं जनयति' इति । कृतमस्य जानन्, अस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । अनेनात्मनः कृतमुपकारं जानन् ।

वह अमृत—पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मका आत्मभावसे दान करके आवरण—सब ओरसे पूर्ण कर देता है । अतः उस आचार्यके प्रति द्रोह न करे । जैसा कि श्रुति कहती है—'जिसकी भगवान्‌में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान्‌में है वैसी ही गुरुमें भी है, उस महात्माके प्रति ही इन कहे हुए अर्थोंका प्रकाश होता है ।' इसी प्रकार आपस्तम्बजी भी कहते हैं—'उससे कभी द्रोह न करे; क्योंकि वही विद्याके द्वारा उसे जन्म प्रदान करता है ।' 'कृतमस्य जानन्' इसमें 'अस्य' शब्दमें तृतीयाके अर्थमें षष्ठी है; अर्थात् उसके द्वारा किये हुए अपने उपकारको जानकर ।

किं तर्हि कर्त्तव्यमित्याह—गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत, देवमिवाचार्यमुपासीत । तथा च श्रुतिः—'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इति । तथा स्वाध्यायमिच्छेच्च श्रवणादिपरो भवेत् । सदाप्रमत्तोऽप्रमादी सन् ॥ ८ ॥

तो फिर क्या करना चाहिये ? सो बतलाते हैं—शिष्यको नित्य गुरुकी वन्दना करनी चाहिये—उसे भगवान्‌के समान ही गुरुकी उपासना करनी चाहिये । ऐसा ही 'जिसकी भगवान्‌में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान्‌में है वैसी ही गुरुमें भी है' इत्यादि श्रुति भी कहती है । तथा स्वाध्यायकी इच्छा करनी चाहिये अर्थात् सर्वदा अप्रमत्त—प्रमादशून्य रहकर श्रवणादिमें तत्पर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

चतुष्पाद ब्रह्मचर्यका वर्णन

इदानीं चतुष्पादब्रह्मचर्यं श्लोकचतुष्टयेनाह—

अब चार श्लोकोंसे चार पादवाले ब्रह्मचर्यका वर्णन करते हैं—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ९ ॥

म० सन० ४. १२. १३—

जो शिष्यवृत्तिके अनुसार ही पवित्रात्मा होकर विद्या प्राप्त करता है, उसकी वह विद्याप्राप्ति इस ब्रह्मचर्यका प्रथम पाद कही जाती है ॥ ९ ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव । 'आचार्ययोनिमिह' इत्यादिनोक्तक्रमेण शुचिर्विद्यामाप्नोति यत्, तद् ब्रह्मचर्यं तस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ९ ॥

शिष्यवृत्तिक्रमसे अर्थात् 'आचार्ययोनिमिह' इत्यादि श्लोकमें बतलाये हुए क्रमसे पवित्र होकर जो विद्या प्राप्त करता है, उसका वह ब्रह्मचर्य इस ब्रह्मचर्यव्रतका प्रथम पाद कहा जाता है ॥ ९ ॥

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत् ।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १० ॥

जिस प्रकार सर्वदा गुरुके साथ व्यवहार करता है, उसी प्रकार गुरुपत्नीके साथ भी करना चाहिये और वैसा ही उनके पुत्रके साथ भी करे—यह [ब्रह्मचर्यका] द्वितीय पाद है ॥ १० ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः । तथा चोक्तम्—'आचार्यवदाचार्यदारेषु वृत्तिः', 'आचार्यवदाचार्यपुत्रे वृत्तिश्च' इति ॥ १० ॥

श्लोकका अर्थ स्पष्ट है । ऐसा ही कहा भी है—'आचार्यके समान ही आचार्यपत्नीके साथ व्यवहार करे' तथा 'आचार्यके समान ही आचार्यपुत्रके साथ व्यवहार करे' इत्यादि ॥ १० ॥

आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन ।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ ११ ॥

आचार्यद्वारा किये हुए अपने उपकारको जानकर तथा परमार्थका ज्ञान प्राप्त कर जो 'इन्होंने मुझे [नूतन] जन्म प्रदान किया है' ऐसा समझते हुए उनके प्रति प्रमुदितचित्त हो अपनेको कृतार्थ समझता है, वह निश्चय ही ब्रह्मचर्यका तृतीय पाद है ॥ ११ ॥

आचार्येणात्मकृतम् आत्मनः कृतमुपकारं विजानन् ज्ञात्वा अर्थं वेदार्थं परमपुरुषार्थं ज्ञात्वा च अवगम्य भावितोऽस्मीत्यनेन स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना यथावदुत्पादितोऽस्मीति चिन्तयन् तमाचार्यं प्रति हृष्टबुद्धिः सन् यद् आत्मनः कृतार्थत्वं मन्यते स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ ११ ॥

आचार्यके द्वारा किये हुए अपने उपकारको जानकर तथा अर्थ—वेदार्थ अर्थात् परमपुरुषार्थको जानकर यह सोचते हुए कि इन्होंने मुझे उत्पन्न किया है अर्थात् अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे मुझे यथावत् जन्म प्रदान किया है, उन आचार्यदेवके प्रति प्रमुदितचित्त हो जो अपनी कृतकृत्यता मानता है, वही निश्चय ब्रह्मचर्यका तीसरा पाद है ॥ ११ ॥

आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

शिष्यको अपने प्राण और धनको भी न्यौछावर करके मन, वचन और कर्मसे आचार्यका प्रिय करना चाहिये । यह चतुर्थ पाद कहा जाता है ॥ १२ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १२ ॥

अर्थ स्पष्ट है ॥ १२ ॥

चतुष्पाद ब्रह्मविद्याका वर्णन

इदानीं चतुष्पदीं विद्यां दर्शयति—

अब चार पादवाली विद्याको प्रदर्शित करते हैं—

कालेन पादं लभते तथायं तथैव पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छेच्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥ १३ ॥

[ब्रह्मचर्यके समान उससे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या भी चार पादोंवाली ही है—] यह जिज्ञासु विद्याका एक पाद कालक्रमसे प्राप्त करता है, एक पाद गुरुके साथ सम्बन्ध होनेसे पाता है, एक पादकी प्राप्ति उत्साहके द्वारा करता है और फिर एक पाद शास्त्रके द्वारा प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

अत्र क्रमो न विवक्षितः । प्रथमं गुरुयोगतः, तत उत्साहयोगेन बुद्धिविशेषप्रादुर्भावेन, ततः कालेन बुद्धिपरिपाकेण, ततः शास्त्रेण सहाध्यायिभिस्तत्त्वविचारेण । तथा चोक्तम्—'आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया । कालेन पादमादत्ते पादं सब्रह्मचारिभिः' इति ॥ १३ ॥

यहाँ पादोंका क्रम बतलाना अभीष्ट नहीं है । पहले गुरुके योगसे, फिर उत्साहके द्वारा बुद्धिविशेषका प्रादुर्भाव होनेसे और तत्पश्चात् कालक्रमसे बुद्धिका परिपाक होनेपर शास्त्रके द्वारा सहपाठियोंके साथ तत्त्वका विचार करनेसे [इनकी प्राप्ति होती है] । ऐसा ही कहा भी है—'शिष्य एक पाद आचार्यसे प्राप्त करता है, एक अपनी बुद्धिसे, एक कालक्रमसे और एक अपने सहाध्यायी ब्रह्मचारियोंके द्वारा प्राप्त करता है'* ॥ १३ ॥

गुरुसेवाका महत्त्व

ज्ञानादीनामाचार्यसंनिधाने फलसिद्धिरित्याह—

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानादि साधनोंकी फल-प्राप्ति आचार्यकी संनिधिमें होती है—

* यहाँ श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही ब्रह्मविद्याके पादरूपसे विवक्षित है । श्रवण पहला पाद है, इसकी प्राप्ति गुरुके द्वारा होती है । मननके दो भेद हैं । मननका पूर्वार्द्ध दूसरा पाद है, इसकी प्राप्ति उत्साहसे होती है । इस स्थितिमें जिज्ञासु उत्साहपूर्वक अनेकों युक्ति-प्रयुक्तियोंसे श्रवण की हुई विद्याकी अर्थवत्ताका विचार करता है । तीसरा पाद मननका उत्तरार्द्ध है । इसकी प्राप्ति सहाध्यायियोंके साथ शास्त्राध्ययनसे होती है । इस स्थितिमें वह मननद्वारा निश्चय किये हुए अर्थको शास्त्रसे मिलाता है तथा चौथा पाद निदिध्यासन है । इस अवस्थामें निश्चित किये हुए तत्त्वका निरन्तर एकरस भावसे चिन्तन किया जाता है । इसकी पूर्ति कालक्रमसे अर्थात् दीर्घकालतक निरन्तर अभ्यास करनेसे होती है ।

ज्ञानादयो द्वादश यस्य रूपमन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च ।
आचार्ययोगे फलतीति चाहुर्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १४ ॥

ज्ञानादि बारह गुण जिसके रूप हैं तथा उसके अन्य अङ्ग और बल—ये आचार्यका सम्बन्ध होनेपर ही सफल होते हैं एवं ब्रह्मचर्यकी सफलता ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर होती है ॥ १४ ॥

ज्ञानादयः 'ज्ञानं च' इत्यादिना पूर्वोक्ता द्वादश गुणा यस्य पुरुषस्य रूपम्, अन्यानि चाङ्गानि 'श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः', 'सत्यं ध्यानम्' इति श्लोकद्वयेन चोक्तानि । तथा बलं च तद्धर्मपरिपालनसामर्थ्यं च सर्वमाचार्ययोगे एव फलति, नाचार्ययोगं विना फलति । श्रूयते च—'आचार्याद्धैव विद्या विदिता' इति, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति च । ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यं यदिदं गुरुसंनिधौ शुश्रूषाद्याचरणं तद् ब्रह्मचर्यं ब्रह्मार्थयोगेन फलति, स्वात्मनश्चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वसम्पादनद्वारेण फलतीत्यर्थः ॥१४॥

'ज्ञानादयः' अर्थात् 'ज्ञानं च' इत्यादि श्लोकसे पहले कहे हुए ज्ञानादि बारह गुण जिस पुरुषके रूप हैं तथा 'श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः' और 'सत्यं ध्यानम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे बतलाये हुए अन्य गुण जिसके अङ्ग हैं और उसका जो बल—स्वधर्मपालनका सामर्थ्य है, वे सब आचार्यका सम्बन्ध होनेपर ही सफल होते हैं, आचार्यका सम्बन्ध हुए बिना उनकी सफलता नहीं होती । इस विषयमें 'आचार्यसे ही विद्याका ज्ञान होता है', 'आचार्यवान् पुरुषको ही ज्ञान होता है' ऐसी श्रुतियाँ भी हैं । तथा ब्रह्मतत्त्वका सम्बन्ध होनेसे ब्रह्मचर्य सफल होता है । अर्थात् गुरुकी सन्निधिमें रहकर जो यह गुरुशुश्रूषादिका आचरण करना है, उस ब्रह्मचर्यकी सफलता ब्रह्मतत्त्वका सम्बन्ध होनेपर होती है । तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मके साथ अपनी एकता सम्पादन करनेसे उसकी सफलता होती है ॥ १४ ॥

ब्रह्मचर्यकी स्तुति

ब्रह्मचर्यस्तुतिं करोति द्वाभ्याम्—

अब दो श्लोकोंसे ब्रह्मचर्यकी स्तुति करते हैं—

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् ।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मचर्येण चाभवन् ॥ १५ ॥
एतेनैव सगन्धर्वा रूपमप्सरसोऽजयन् ।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्यो अह्नाय जायते ॥ १६ ॥

इस ब्रह्मचर्यके द्वारा देवताओंने देवत्व प्राप्त किया था तथा महाभाग ऋषिगण भी ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ऋषि हुए थे । इसीके द्वारा गन्धर्वोंके सहित अप्सराओंने रूप प्राप्त किया था तथा इस ब्रह्मचर्यसे ही सूर्य प्रकाशका कारण होता है ॥ १५-१६ ॥

देवा देवत्वमेतेन प्राप्नुवन् । ऋषयोऽपीह ऋषित्वमेतेन प्राप्ताः । सगन्धर्वा गन्धर्वैः सह वर्तमाना रूपमप्सरसोऽजयन्, रूपाणि रमणीयानि एतेन ब्रह्मचर्येण अजयन् । अह्नो दीप्तिसमूहः, अह्नाय जगतां द्योतनाय सूर्यश्च जायते । उक्तं च—'अह्नो दीप्तिश्च कथ्यते' इति ॥ १५-१६ ॥

इसके द्वारा देवताओंने देवत्व प्राप्त किया था। ऋषिगण भी इसीसे ऋषित्वको प्राप्त हुए थे। सगन्धर्व—गन्धर्वोंके सहित स्थित अप्सराओंने इसीसे रूप—रमणीय रूप लाभ किया था; [तथा इसीसे] सूर्य 'अह्नाय'—'अह्न' दीप्तिसमूहको कहते हैं, अतः अह्नाय—जगत्के प्रकाशनका हेतु होता है। 'अह्न दीप्तिको कहते हैं' ऐसा कहा भी है ॥ १५-१६ ॥

कथमेकस्य ब्रह्मचर्यस्यानेकविधफलसाधकत्वमित्यत आह—

एक ही ब्रह्मचर्यका अनेक प्रकारके फलोंका साधकत्व किस प्रकार है, सो अब बतलाते हैं—

आकाङ्क्षार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येतत् समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ १७ ॥

विभिन्न रसोंके इच्छुकोंके समान [विभिन्न] अभीष्ट अर्थोंका संयोग होनेसे [यह तदनुकूल विभिन्न फल प्रदान करता है]। इसे इस प्रकार जानकर ये देवगण उस-उस प्रकारके भावोंको प्राप्त हुए हैं ॥ १७ ॥

यथा चिन्तामण्यादयो रसभेदार्थिनाम् आकाङ्क्षार्थस्य संयोगात् तत्तदाकाङ्क्षितमर्थं प्रयच्छन्ति, एवमेवैतद् ब्रह्मचर्यमाकाङ्क्षार्थस्य संयोगात् तत्तदाकाङ्क्षितमर्थं प्रयच्छतीति ज्ञात्वा तत्तत्फलार्थं ब्रह्मचर्यं चरित्वा तादृग्भावं तादृशं भावं गता इमे देवादयः। यस्मादाचार्यसंनिध्यनुष्ठिताद् ब्रह्मचर्यात् परमपुरुषार्थप्राप्तिस्तस्मादाचार्ययोनिं प्रविश्य गर्भो भूत्वा ब्रह्मचर्यं चरेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार रसभेदके इच्छुकोंको चिन्तामणि आदि उनके आकाङ्क्षित पदार्थका संयोग कराकर उन्हें अभीष्ट पदार्थ प्रदान करते हैं, उसी प्रकार यह ब्रह्मचर्य आकाङ्क्षित अर्थके संयोगद्वारा उस-उस अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति कराता है—ऐसा जानकर ये देवादि उस-उस प्रकारके फलकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यका आचरण कर वैसे भाव अर्थात् उसी प्रकारके भावको प्राप्त हुए हैं। क्योंकि आचार्यकी संनिधिमें अनुष्ठान किये गये ब्रह्मचर्यसे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, अतः आचार्य-योनिमें प्रवेश कर उसका गर्भ होकर ब्रह्मचर्यका आचरण करे—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १७ ॥

कर्म और ज्ञानके विभिन्न फल

नन्वेवं ज्ञाननिष्ठता यदि ज्ञानस्यैव पुरुषार्थत्वं भवेत्; अपितु कर्मण एवेत्याशङ्क्याह—

किंतु इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा तो तभी हो सकती थी जब कि केवल ज्ञान ही पुरुषार्थ होता, परंतु पुरुषार्थका हेतु तो कर्म भी है—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

अन्तवन्तः क्षत्रिय ते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन ।
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः ॥ १८ ॥

हे क्षत्रिय ! वे (कर्मपरायण) लोग तो अपने किये हुए कर्मद्वारा नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त होते हैं; किंतु ज्ञानके द्वारा विद्वान् नित्य प्रकाशको प्राप्त होता है । इसके सिवा उसका कोई और मार्ग नहीं है ॥१८॥

हे क्षत्रिय ! अन्तवन्तः—अन्तवतो लोकान् पितृलोकदेवलोकादीन् ते जयन्ति प्राप्नुवन्ति नानन्तं स्वात्मभूतं परमात्मानं लोकं जयन्ति । केन तर्ह्यनन्तलोकप्राप्तिरित्याशङ्क्याह—ज्ञानेन विद्वान् तेज अभ्येति नित्यमिति । नित्यमविनाश्यात्मभूतमेवाभ्येति तेजो ज्योतिर्न कर्मणा ।

कस्मात् पुनर्ज्ञानेनैवाभ्येति ? तत्राह—न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः । तस्य पूर्णानन्दज्योतिषो ज्ञानमेकं मुक्त्वान्यः पन्था मार्गो नास्त्येव । श्रूयते च—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति ॥ १८ ॥

हे क्षत्रिय ! वे (कर्मपरायण लोग) अन्तवान्—पितृलोक, देवलोकादि नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त होते हैं; वे अनन्त अर्थात् अपने आत्मस्वरूप परमात्मलोकको प्राप्त नहीं होते । तो फिर अनन्त लोककी प्राप्ति किससे होती है ? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—विद्वान् ज्ञानके द्वारा नित्य तेजको प्राप्त होता है; नित्य—अविनाशी अर्थात् आत्मभूत तेज यानी ज्योतिको प्राप्त होता है, कर्मके द्वारा नहीं ।

किंतु ज्ञानसे ही वह उसे क्यों प्राप्त होता है ? इसपर कहते हैं—क्योंकि उसका कोई अन्य मार्ग नहीं है अर्थात् उस पूर्णानन्दमय प्रकाशका एक ज्ञानको छोड़कर और कोई मार्ग नहीं है । श्रुति भी कहती है—'उसे ही जानकर पुरुष मृत्युसे परे चला जाता है, मोक्षके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है' ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रका ब्रह्मस्वरूपविषयक प्रश्न

ज्ञानेन विद्वान् यद् ब्रह्म पश्यति, तत्किमिवाभातीति पृच्छति धृतराष्ट्रः—

ज्ञानके द्वारा विद्वान् जिस ब्रह्मका साक्षात्कार करता है, वह किसके समान प्रतीत होता है, सो धृतराष्ट्र पूछते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच—

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा ।
यद् ब्राह्मणः पश्यति यत्र विद्वान् कथंरूपं तदमृतमक्षरं परम् ॥ १९ ॥

राजा धृतराष्ट्र बोले—ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जहाँ ब्रह्मका साक्षात्कार करता है, वहाँ वह ब्रह्म उसे शुक्ल, लोहित, श्याम, श्वेत अथवा धूम्रवर्ण किस प्रकारका प्रतीत होता है ? वह उत्कृष्ट अमृतमय अविनाशी ब्रह्म कैसे रूपवाला है ? ॥ १९ ॥

ज्ञानेन यद्विद्वान् पश्यति ब्रह्म, तत्किं शुक्लमिव आभाति, लोहितमिव आभाति, कृष्णमिव अर्जुनं काद्रवमिव आभाति। यत्र देशे भाति कथंरूपं तदमृतमक्षरं परं ब्रह्म ॥ १९ ॥

ज्ञानके द्वारा विद्वान् जिस अविनाशी परब्रह्मका साक्षात्कार करता है, वह ब्रह्म क्या शुक्लरूप प्रतीत होता है ? अथवा लोहित जान पड़ता है ? या कृष्णवर्ण, अर्जुन (श्वेत) अथवा धूम्रवर्ण प्रतीत होता है। वह अमृतमय अविनाशी उत्कृष्ट ब्रह्म जिस देशमें प्रतीत होता है कैसे रूपवाला जान पड़ता है ? ॥ १९ ॥

ब्रह्मस्वरूपकी विलक्षणता

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

इस प्रकार पूछे जानेपर भगवान् सनत्सुजातने कहा—

सनत्सुजात उवाच—

नाभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथार्जुनं काद्रवं वा।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥ २० ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—यह न तो शुक्ल-सा प्रतीत होता है और न लोहित, श्याम, श्वेत या धूम्रवर्ण ही जान पड़ता है। यह न पृथ्वीमें स्थित है, न अन्तरिक्षमें विद्यमान है और न समुद्रमें ही कोई पञ्चभूतात्मक देह धारण करता है ॥ २० ॥

नैतद् ब्रह्म शुक्लादिरूपत्वेनावभासते,अरूपत्वाद् ब्रह्मणः। श्रूयते च—'ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्' इति। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इति च। तथा न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे। तथा च श्रुतिरन्यत्रानवस्थानं दर्शयति—'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति।'

यह ब्रह्म शुक्लादि रूपसे नहीं भासता; क्योंकि ब्रह्म रूपरहित है। इस विषयमें 'उससे जो आगे है, वह अरूप और अनामय है' एवं 'वह शब्दरहित, स्पर्शरहित और रूपरहित है' इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं। तथा वह न पृथ्वीमें स्थित है और न आकाशमें। इसी प्रकार 'भगवन्! वह किसमें स्थित है ? इसपर कहते हैं—अपनी महिमामें' यह श्रुति भी उसकी अन्यत्र अनवस्थिति प्रदर्शित करती है।

कस्मात्पुनः कारणात् पृथिव्यादिषु न तिष्ठति ? तत्राह—नैतत्समुद्रे सलिलं पञ्चभूतात्मकं देहं बिभर्ति। सलिलशब्दो भूतपञ्चकोपलक्षणार्थः। यथा 'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्' इत्यत्रापि अप्शब्दो भूतपञ्चकोपलक्षणार्थः। श्रूयते

किंतु वह पृथिवी आदिमें किस कारणसे स्थित नहीं है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—यह समुद्रमें भी जल अर्थात् पञ्चभूतात्मक शरीर धारण नहीं करता। यहाँ 'सलिल' शब्द पाँचों भूतोंका उपलक्षण करानेके लिये है; जिस प्रकार कि '[ईश्वरने] पहले जलकी ही रचना की और उसमें वीर्याधान किया' इस श्रुतिमें 'अप् (जल)' शब्द पाँचों भूतोंके उपलक्षणके लिये

च पञ्चाग्निविद्यायाम् 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति अपामेव पुरुषशब्दवाच्यत्वम् ।

है । [इसके सिवा] ऐसी श्रुति भी है—पञ्चाग्निविद्याके अनुसार 'पाँचवीं आहुतिमें आप (जल) की संज्ञा 'पुरुष' हो जाती है' । यहाँ जलका ही 'पुरुष' शब्द-वाच्यत्व दिखलाया है ।

एतदुक्तं भवति—यदि ब्रह्मणः संसारान्तर्वर्त्तित्वं भवेत् तदा संसारानुप्रविष्टत्वाद् घटादिवदीदृग्रूपादिमत्त्वमन्यस्मिंश्चावस्थानं भवेत् । इदं तु पुनरपूर्वादिलक्षणत्वात् संसारानुप्रविष्टमेव ब्रह्म, तस्माद्रूपादिरहितमेव तदिति ॥ २० ॥

[उपर्युक्त विवेचनसे] यह बतलाया जाता है कि यदि ब्रह्मकी स्थिति संसारके अन्तर्गत हो तो संसार-में अनुप्रविष्ट होनेके कारण घटादिके समान उसका अमुकरूपादिमत्त्व एवं अन्यमें अवस्थिति होनी सम्भव है । किंतु अपूर्वादिरूप होनेके कारण यह ब्रह्म उसमें अनुप्रविष्ट है ही नहीं; अतः वह रूपादिरहित ही है ॥ २० ॥

तर्हि न कस्य कुत्राप्युपलभ्यते इत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि तब तो यह कहीं किसीको उपलब्ध नहीं हो सकता—

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।
न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥ २१ ॥
नैवर्क्षु तन्न यजुःषु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।
रथन्तरे वार्हते वापि राजन् महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तत् ॥ २२ ॥

यह ब्रह्म न तारागणमें है, न विद्युत्में स्थित है और न मेघोंमें ही इसका रूप देखा जाता है । यह न वायुमें है, न देवताओंमें है, न चन्द्रमामें है और न सूर्यमें ही देखा जाता है । यह न ऋग्वेदमें उपलब्ध होता है, न यजुर्वेदमें, न अथर्ववेदमें और न निर्मल सामश्रुतियोंमें ही दिखायी देता है । तथा हे राजन् ! रथन्तर और बृहद्रथ सामोंमें भी इसकी उपलब्धि नहीं होती । इसका साक्षात्कार तो महाव्रतशील ब्राह्मणको अपने अन्तःकरण-में ही होता है ॥ २१-२२ ॥

'ज्ञानं च सत्यं च' इत्युपक्रम्य 'महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य' इति ये गुणा उक्तास्तत्संयुक्तस्यात्मनि दृश्यते तत्परं ब्रह्म न घटादिवदिदंतया सिध्यति, अपि त्वात्मन्येवात्मतया सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २१-२२ ॥

पहले 'ज्ञानं च सत्यं च' यहाँसे लेकर 'महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य' इस वाक्यतक जिन गुणोंका वर्णन किया गया है, उनसे सम्पन्न पुरुषको वह परब्रह्म अपने अन्तःकरणमें उपलब्ध होता है । वह घटादिके समान इदंरूपसे सिद्ध नहीं होता, अपितु अपने अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपसे ही सिद्ध होता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २१-२२ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारका स्वरूप और फल

इदानीं तत्स्वरूपं तद्दर्शनं तत्फलं च श्लोकद्वयेन निर्दिशति—

अब दो श्लोकोंसे उसके स्वरूप, उसके दर्शन और उसके दर्शनके फलका वर्णन करते हैं—

अवारणीयं तमसः परस्तात् तदन्ततोऽभ्येति विनाशकाले ।
अणीयरूपं च तथाप्यणीयसां महत्स्वरूपं त्वपि पर्वतेभ्यः ॥ २३ ॥
तदेतदह्ना संस्थितं भाति सर्वं तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात् ।
तस्मिन् जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २४ ॥

अज्ञानान्धकारसे अतीत यह ब्रह्म अविच्छिन्न है; अन्तमें जगत्‌का प्रलयकाल उपस्थित होनेपर भी यह स्थित रहता है । यह सूक्ष्मोंसे भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप और पर्वतोंसे भी महान् है । उसमें स्थित हुआ यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशस्वरूप ब्रह्मसे ही प्रकाशित हो रहा है; आत्मवेत्ता लोग ज्ञानयोगके द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं; यह सम्पूर्ण जगत् उसीमें स्थित है; जो उसे जान जाते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रसनत्सुजातसंवादे श्रीसनत्सुजातीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

यदिदं महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तदवारणीयं ब्रह्म सर्वगतत्वात् । तमसोऽज्ञानात् परस्तात् तद् ब्रह्म अन्ततोऽभ्येति प्रविशति विनाशकाले प्रलयकाले, जगदिति शेषः । तथा अणीयसामपि अणीयरूपं पर्वतेभ्योऽपि महत्स्वरूपम् । श्रूयते च —'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इति ।

दृश्यन्ते च ये अणुत्वमहत्त्वादयो लोके तदेतत्सर्वं जगद् अह्ना अह्नो रूपेण प्रकाशरूपेण ब्रह्मणि संस्थितं तदात्मत्वेनैवावभाति । श्रूयते च—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इति च । तद् ब्रह्म आत्मवित्पश्यति ज्ञानयोगाद् न कर्मयोगेन, तस्मिन्नेव परमात्मनि जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितम् । ये एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २३-२४ ॥

महाव्रतशील ब्राह्मणको जिसका साक्षात्कार होता है, वह ब्रह्म सर्वगत होनेके कारण अवारणीय (अविच्छिन्न) है तथा तम—अज्ञानसे परे है । अन्तमें जगत्‌का नाश होनेके समय अर्थात् प्रलयकालमें भी वह ब्रह्म स्थित रहता है । यहाँ 'जगत्' पद वाक्यमें शेष है । तथा वह अणुओंसे भी अणु और पर्वतादिसे भी महान् है; जैसा कि 'वह अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् है' यह श्रुति बतलाती है ।

तथा लोकमें जो अणुत्व और महत्त्वादि देखे जाते हैं, वह सम्पूर्ण जगत् अहः—दिवसरूप अर्थात् प्रकाशस्वरूप ब्रह्मसे ही, उसमें स्थित हुआ अर्थात् तद्रूपसे ही भासता है । उसके विषयमें 'उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है' तथा 'जिसके तेजसे दीप्त होकर सूर्य प्रकाशित होता है' इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं । उस ब्रह्मका आत्मवेत्ता ज्ञानयोगसे साक्षात्कार करता है, कर्मयोगसे नहीं । उस परमात्मामें ही यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है । जो उसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ श्रीसनत्सुजातीयभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

ब्रह्मका योगिदृश्य रूप

'अवारणीयं तमसः परस्तात्' इत्यादिना ब्रह्मणो रूपं निर्धार्य 'तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात्' इति ज्ञानयोगेनात्मदर्शनमुक्तम् । पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयित्वा योगिनस्तद्रूपं पश्यन्तीत्याह—

'अवारणीयं तमसः परस्तात्' इत्यादि श्लोकसे ब्रह्मका स्वरूप निश्चय कर 'तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात्' इस वाक्यसे ज्ञानयोगके द्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया। फिर भी उस (ब्रह्म) का स्वरूप दिखलाकर यह बतलाते हैं कि योगिजन उस रूपका दर्शन करते हैं—

सनत्सुजात उवाच—

यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः ।
यद्वै देवा उपासते यस्मादर्को विराजते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १ ॥

श्रीसनत्सुजातजी बोले—वह जो शुद्ध महान् ज्योति है, देदीप्यमान महान् यश है, देवगण जिसकी उपासना करते हैं तथा जिसके द्वारा सूर्य सुशोभित है, उस सनातन भगवान्का योगिजन दर्शन करते हैं ॥ १ ॥

यद् ब्रह्मवित् पश्यति ज्ञानयोगात्, यज्ज्ञात्वा अमृता भवन्ति, तच्छुक्रं शुद्धमविद्यादिदोषरहितं महज्ज्योतिः सर्वावभासकत्वात् । श्रूयते च—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति । दीप्यमानं भ्राजमानं महद्यशः । श्रूयते च—'तस्य नाम महद्यशः' इति । यद्वै ब्रह्म देवा इन्द्रादय उपासते । श्रूयते च—'तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' इति । यस्मात् परज्योतिषो ब्रह्मणोऽर्क आदित्यो विराजते 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इति श्रुतेः । एवंभूतं परमात्मानं भगवन्तं सनातनं योगिन एव पश्यन्ति, न पुनर्ज्ञानयोगरहिताः ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता ज्ञानयोगके द्वारा जिसका साक्षात्कार करते हैं, जिसे जानकर अमर हो जाते हैं, सबका प्रकाशक होनेके कारण वह शुक्र—शुद्ध अर्थात् अविद्यादि दोषसे रहित महान् ज्योति है । उसके विषयमें 'उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित है' ऐसी श्रुति भी है । जो दीप्यमान अर्थात् प्रकाशमान महद्यश है, जैसा कि 'उसका नाम महद्यश है' इस श्रुतिसे सुना जाता है । तथा जिस ब्रह्मकी इन्द्रादि देवगण उपासना करते हैं; जैसी कि श्रुति है—'उसे देवगण ज्योतियोंका ज्योति, आयु और अमृतरूपसे उपासना करते हैं ।' तथा 'जिसके द्वारा तेजसे सम्पन्न हो सूर्य तपता है' इस श्रुतिके अनुसार जिस परप्रकाशमय ब्रह्मसे अर्क अर्थात् सूर्य प्रकाशित होता है । ऐसे उस परमात्मा सनातन भगवान्को योगिजन ही देखते हैं । जो ज्ञानयोगसे रहित हैं, वे नहीं देखते ॥ १ ॥

ब्रह्मका सर्वकारणत्व स्वयंप्रकाशत्व

इदानीं परस्मादेव ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाद्युत्पत्तिं दर्शयति—

अब परब्रह्मसे ही हिरण्यगर्भादिकी उत्पत्ति दिखलाते हैं—

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते ।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २ ॥

उस शुद्ध ब्रह्मसे [कार्य] ब्रह्मकी उत्पत्ति होती है, शुद्ध ब्रह्मसे ही उसकी वृद्धि होती है । [आदित्यादि] ज्योतिर्गणोंमें उन्हें प्रकाशित करनेवाला और स्वयं उनसे अप्रकाशित वह शुद्ध ब्रह्म स्वयं ही प्रकाशित होता है । उस सनातन भगवान्‌का योगिजन दर्शन करते हैं ॥ २ ॥

शुक्राच्छुद्धात् पूर्वोक्ताद् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म प्रभवति उत्पद्यते । अथोत्पन्नं ब्रह्म शुक्रेण वर्धते विराडात्मना । तच्छुक्रं शुद्धं ब्रह्म ज्योतिषामादित्यानां मध्ये तैरतप्तमप्रकाशितं सत् तपति स्वयमेव प्रकाशते, तेषामपि तापनं प्रकाशकम् । योऽन्यानवभास्यः सर्वावभासकः स्वयमेवावभासते तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥२॥

शुक्र अर्थात् पूर्वोक्त शुद्ध ब्रह्मसे हिरण्यगर्भसंज्ञक ब्रह्मकी उत्पत्ति होती है । फिर वह उत्पन्न हुआ ब्रह्म शुद्ध ब्रह्मके द्वारा ही विराट्‌रूपसे वृद्धिको प्राप्त होता है । वह शुक्र यानी शुद्ध ब्रह्म आदित्यादि ज्योतिर्गणके मध्यमें उनसे अतप्त—अप्रकाशित रहते हुए ही स्वयं तपता—प्रकाशित होता है और उनका भी तापन—प्रकाशक है । इस प्रकार जो अन्योंसे अप्रकाश्य एवं सभीका प्रकाशक है, वह ब्रह्म स्वयं ही प्रकाशमान है; उस भगवान्‌का योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ २ ॥

शुद्ध ब्रह्म, कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्मकी एकता

इदानीं पूर्णवाक्यार्थं कथयति—

अब 'पूर्णमिद०—' इत्यादि वाक्यका अर्थ बतलाते हैं—

पूर्णात् पूर्णमुद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णं प्रचक्षते ।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णं च पूर्णेनैवावशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ३ ॥

पूर्ण (परमात्मा) से [जीवरूप] पूर्णको उद्धृत करते हैं । पूर्णसे उद्धृत होनेके कारण वह पूर्ण ही कहा जाता है । फिर उस पूर्णसे [शुद्ध आत्मस्वरूप] पूर्णको अलग कर लेते हैं और इस प्रकार पूर्णरूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं । उस सनातन भगवान्‌का योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ ३ ॥

पूर्णाद् देशतः कालतो वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नात् परमात्मनः पूर्णमेवोद्धरन्ति जीवरूपेण । यत्पूर्णात् पूर्णमुद्धृतं जीवात्मना अतः पूर्णादेव समुद्धृतत्वादिदमपि जीवस्वरूपं पूर्णमेव प्रचक्षते विद्वांसः । तथा

पूर्णसे अर्थात् देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न परमात्मासे जीवरूपसे पूर्णको ही उद्धृत करते हैं । क्योंकि पूर्णसे जीवरूपसे पूर्णको ही उद्धृत किया है, अतः पूर्णसे उद्धृत होनेके कारण विद्वान् इस जीवके स्वरूपको भी पूर्ण ही बतलाते हैं । इसी प्रकार

हरन्ति पूर्णाद् जीवात्मनावस्थितात् पूर्णमात्मस्वरूपमात्रं देहेन्द्रियाद्यनुप्रविष्टं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्तीत्यर्थः। तत उद्धृतेनैव मूलभूतेन पूर्णानन्देनावशिष्यते तेनैव पूर्णानन्देन ब्रह्मणा संयुज्यते । चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनावतिष्ठत इत्यर्थः ।

'पूर्णमेवावशिष्यते' इति वा पाठः । यदा देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्ति, तदा पूर्णमेवावशिष्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' ।

अस्यायमर्थः—पूर्णमदस्तच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं ब्रह्म । पूर्णमिदं त्वंशब्दनिर्दिष्टं प्रत्यगात्मस्वरूपम् । अनयोस्तत्त्वंपदार्थयोः कथं पूर्णत्वमिति चेत्, तत्राह—पूर्णादनवच्छिन्नात्पूर्णमेवोदच्यते उद्रिच्यते जीवेश्वररूपेण यस्मात् तस्मादनयोः पूर्णत्वमित्यर्थः । पूर्णस्य तत्त्वमात्मनावस्थितस्य पूर्णं रूपमादाय तत्त्वंपदार्थयोः शोधनं कृत्वा शोधितपदार्थः सन्नित्यर्थः । पूर्णमेव ब्रह्म अवशिष्यते पूर्णमेव ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । यः पूर्णस्वरूपस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ३ ॥

जीव-रूपसे स्थित इस पूर्णसे आत्मस्वरूपमात्र पूर्णको अलग करते हैं । तात्पर्य यह है कि देह और इन्द्रियादिमें अनुप्रविष्ट उनके साक्षीको, जो सबसे अन्तरतम है, देह और इन्द्रियादिसे निकालकर स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकारके देहोंसे उद्धृत करते हैं । तब यह उनसे उद्धृत किये हुए अपने मूलभूत पूर्णानन्दरूपसे ही बच रहता है—वह उस पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मसे ही संयुक्त हो जाता है अर्थात् चित्, सत्, आनन्द एवं अद्वितीय ब्रह्मरूपसे ही स्थित हो जाता है ।

अथवा ['पूर्णेनैवावशिष्यते' के स्थानमें] 'पूर्णमेवावशिष्यते' ऐसा पाठ हो तो ऐसा अर्थ होगा कि जिस समय देह एवं इन्द्रियादिसे निकालकर उनके साक्षी सर्वान्तर्यामी आत्माको देहद्वयसे उद्धृत करते हैं, तब पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है । ऐसी ही यह श्रुति भी है—'वह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्णसे पूर्णकी अभिव्यक्ति होती है । इस पूर्णके पूर्णत्वको अलग करनेपर भी पूर्ण ही शेष रह जाता है ।'

इसका अर्थ इस प्रकार है—वह अर्थात् तच्छब्दवाच्य जगत्का कारणभूत ब्रह्म पूर्ण है । तथा यह—त्वंशब्दसे निर्दिष्ट प्रत्यगात्मस्वरूप (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है । यदि कहो कि इन तत् और त्वंपदके वाच्योंकी पूर्णता किस प्रकार है ? तो इसपर कहते हैं—क्योंकि पूर्ण अर्थात् अनवच्छिन्नसे जीव और ईश्वररूपसे पूर्ण ही उद्धृत होता है, अतः इन दोनोंहीकी पूर्णता है । इस पूर्ण अर्थात् तत् और त्वंरूपसे स्थित (ईश्वर और जीव) के पूर्ण यानी रूपको अलगकर—तत् और त्वं पदार्थोंका शोधन कर अर्थात् शुद्ध पदार्थ होनेपर पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्म ही हो जाता है । यह जो पूर्णस्वरूप है, उस परमात्माका योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मका सर्वाश्रयत्व

यथाऽऽकाशेऽवकाशोऽस्ति गङ्गायां वीचयो यथा।
तद्वच्चराचरं सर्वं ब्रह्मण्युत्पद्य लीयते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ४॥

जिस प्रकार आकाशमें अवकाश है और गङ्गाजीमें तरङ्गें हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होकर उसीमें लीन हो जाता है। उस सनातन भगवान्‌को योगिजन ही देखते हैं॥ ४॥

स्पष्टार्थः श्लोकः॥ ४॥

इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट है॥ ४॥

जीव और ब्रह्मकी सहस्थिति

इदानीं द्वा सुपर्णाविति मन्त्रार्थं कथयति—

अब 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रका अर्थ कहते हैं—

आपोऽथाद्भ्यः सलिलं तस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
आदध्रीचीः सविषूचीर्वसानावुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ५॥

पहले आप हुआ, फिर आपसे सलिल हुआ। उसके मध्यमें आकाशमें उपदिशाओंके सहित दिशाओंको आवृत करते हुए दोनों देव वर्तमान हैं। वे दोनों पृथिवी और द्युलोकका पोषण करते हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगिजन ही दर्शन करते हैं॥ ५॥

अस्मात् परमात्मन आपः प्रथमं सृष्टाः। तथा चाह मनुः—'अप एव ससर्जादौ' इति। भूतपञ्चकोपलक्षणार्थोऽप्छब्दः। अनेन सूक्ष्मसृष्टिरभिहिता। अथानन्तरमद्भ्यः पूर्वसृष्टाभ्यः सलिलं भूतपञ्चकात्मकं स्थूलदेहादिकं सृष्टम्। तस्य सलिलस्य देहात्मनावस्थितस्य मध्येऽन्तरिक्षे हृदयाकाशे उभौ जीवपरमात्मानौ देवौ द्योतनस्वभावौ शिश्रियाते वर्तेते।

पहले इस परमात्मासे 'आप'की रचना हुई। ऐसा ही मनुजी भी कहते हैं—'पहले उसने आपकी ही रचना की।' यहाँ 'अप्' शब्द पञ्चभूतको उपलक्षित करनेके लिये है। ऐसा कहकर सूक्ष्म सृष्टिका वर्णन किया गया। फिर इसके पश्चात् पहले रचे गये आपसे 'सलिल'—पञ्चभूतात्मक स्थूल देहादिकी रचना हुई।* देहरूपसे स्थित उस सलिलके मध्यमें अन्तरिक्ष—हृदयाकाशके अन्तर्गत जीव और परमात्मा दोनों देव—द्योतनशील आश्रित अर्थात् वर्तमान हैं।

* 'आप्' (सं० अप्) और 'सलिल'—ये दोनों शब्द जलके वाचक हैं; यहाँ 'आप्' शब्दसे जलोपलक्षित पञ्चभूत और 'सलिल' शब्दसे अप्कार्योपलक्षित पञ्चभूतके कार्यमात्रको ग्रहण किया गया है।

न केवलमन्तरिक्षे एव शिश्रियाते आदध्रीचीः सविषूचीर्वसानौ आभिमुख्येन ध्रियमाणा वा स्थिता वा अञ्चन्तीत्यादध्रीच्यो दिशः, विषूच्य उपदिशो विष्वग्गमनात्, ताभिः सह वर्तन्त इति सविषूच्यः प्राच्याद्याः सर्वा दिशः, वसानौ आच्छादयन्तौ उभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च। एको जीव आत्मनः स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वमनवगम्य अनात्मनि देहादौ आत्मभावमापन्नः पृथिवीं भूतभौतिकलक्षणं कर्मफलानुरूपं सुखदुःखात्मकं देहादिकं बिभर्ति । अपरो दिवं द्योतनात्मकं स्वात्मरूपं बिभर्ति ।

वे केवल अन्तरिक्षमें ही आश्रित नहीं हैं, अपितु विषूचियोंके सहित आदध्रीचियोंको भी आच्छादित किये हुए हैं। जो सब ओर ध्रियमाण अथवा स्थित हुई ही गयी हुई हैं, उन्हें 'आदध्रीची' अर्थात् 'दिशा' कहते हैं तथा सब ओर गमन करनेके कारण 'विषूची' उपदिशाओंका नाम है; उनके सहित हैं, इसलिये 'सविषूचीः'— उपदिशाओंके सहित पूर्वादि सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित करते हुए वे दोनों पृथिवी और द्युलोकका पोषण करते हैं। उनमेंसे एक जीव तो अपने स्वाभाविक सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मात्मभावको न जाननेके कारण देहादि अनात्मामें आत्मभावको प्राप्त हो पृथिवीका अर्थात् कर्मफलके अनुरूप भूत-भौतिक लक्षणोंवाले सुख-दुःखात्मक देहादिका पोषण करता है तथा दूसरा द्युलोक— द्योतनात्मक स्वात्मस्वरूपका पोषण करता है ।

श्रूयते च—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति । यः स्वात्ममायया स्वात्मानं प्राणाद्यनन्तभेदं कृत्वान्तरमनुप्रविश्य अभिपश्यन्नास्ते तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ५ ॥

श्रुति भी कहती है—'दो युग्म पक्षी साथ-साथ एक ही वृक्षका आश्रय करके स्थित हैं । उनमेंसे एक स्वादु पिप्पल भक्षण करता है और दूसरा भक्षण न करता हुआ केवल देखता है ।' इस प्रकार जो अपनी मायासे अपनेको प्राणादि अनन्त भेदोंवाला करके अन्तःकरणके भीतर प्रविष्ट हो साक्षीरूपसे देखता हुआ स्थित है, उस भगवान्का योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ ५ ॥

ज्ञानीकी स्वात्मस्थिति

इदानीं ज्ञानिनः स्वात्मन्यवस्थानं दर्शयति—

अब ज्ञानीकी अपने आत्मामें स्थिति दिखलाते हैं—

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तं ध्रुवस्याव्ययकर्मणः ।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ६ ॥

नित्य और अमोघकर्मा [परमात्मा] के [त्रैलोक्यरूप] रथके [शरीररूप] चक्रमें स्थित दिव्य एवं जरामरणादिशून्य पुरुषको इसके [इन्द्रियरूप] घोड़े द्युलोकमें ले जाते हैं; [ऐसे जिस प्रकाशस्वरूप परमात्माकी इसे प्राप्ति होती है] उस सनातन भगवान्का योगिजन दर्शन करते हैं ॥ ६ ॥

ध्रुवस्याव्ययकर्मणः परमेश्वरस्य चेश्वरात्मनावस्थितस्य, रथस्य शरीरस्य त्रैलोक्यात्मनावस्थितस्य चक्रे

ईश्वररूपसे स्थित नित्य एवं अमोघकर्मा परमेश्वरके रथ अर्थात् त्रैलोक्यरूपसे अवस्थित शरीरके चक्रमें—

चंक्रमणात्मके देहे तिष्ठन्तं केतुमन्तं प्रज्ञावन्तम् अत एव च दिव्यम् अप्राकृतम् अजरं जरामरणादिधर्मविवर्जितम्, दिवि द्योतनात्मके अनुदितानस्तमितज्ञानात्मनावस्थिते पूर्णानन्दे ब्रह्मणि वहन्त्यश्वा इन्द्रियाणि ।

गमनात्मक देहमें विद्यमान केतुमान्—प्रज्ञावान् अतएव दिव्य—अप्राकृत एवं जरा-मरणादिशून्य पुरुषको उसके घोड़े अर्थात् इन्द्रियाँ द्युलोकमें—द्योतनात्मक लोकमें अर्थात् उदय और अस्तसे रहित ज्ञानस्वरूपसे स्थित पूर्णानन्दस्वरूप परब्रह्ममें ले जाते हैं ।

एतदुक्तं भवति—यद्यपीन्द्रियाणि स्वभावतो विषयेष्वेव वर्तन्ते, तथापि विज्ञानसारथिना समाकृष्यमाणानि केतुमन्तं पुरुषं दिव्येव वहन्ति न पराग्विषय इति । तदुक्तं कठवल्लीषु—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।' इत्यादिना । यत्र परमात्मनि वहन्ति तपसा तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ।। ६ ।।

इससे यह कहा गया है कि यद्यपि स्वभावसे इन्द्रियाँ विषयोंमें ही प्रवृत्त हैं, तथापि विज्ञानरूप सारथिद्वारा सम्यक् प्रकारसे आकृष्ट होती हुई वे प्रज्ञावान् पुरुषको द्युलोकमें ही ले जाती हैं । उसे बाह्य विषयोंमें नहीं ले जातीं । यही बात कठोपनिषद्की वल्लियोंमें भी "आत्माको रथी जानो, शरीरको रथ ही समझो तथा बुद्धिको सारथि और मनको लगाम जानो । इन्द्रियोंको उसके घोड़े बतलाया गया है, विषय उनके गन्तव्य प्रदेश हैं तथा आत्मा, इन्द्रिय और मनसे युक्त पुरुषको 'भोक्ता' कहा गया है" इत्यादि श्रुतिसे भी कही गयी है । वे तपके द्वारा उसे जिस परमात्मामें ले जाते हैं, उस सनातन परमात्माका योगिजन ही दर्शन करते हैं ।। ६ ।।

ब्रह्मकी दुर्दर्शता और ब्रह्मदर्शनसे अमरत्वकी प्राप्ति

नानेन सदृशं किंचिद्विद्यत इत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि इसके समान कोई दूसरा नहीं है—

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
मनीषयाथो मनसा हृदा च य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ७ ।।

इसका रूप किसीकी समानतामें नहीं है । इसे नेत्रके द्वारा कोई भी नहीं देख सकता । बुद्धिसे, मनसे तथा हृदयसे जो कोई इसे जान लेते हैं, वे ही अमर हो जाते हैं । उस सनातन भगवान्का योगिजन दर्शन करते हैं ।। ७ ।।

अस्य परमात्मनो रूपं न सादृश्ये तिष्ठति, नान्येन सादृश्ये वर्तते, नानेन सदृशं किञ्चिद्विद्यते इत्यर्थः ।

इस परमात्माका रूप किसीकी सदृशतामें नहीं है, वह किसी दूसरेकी समानतामें नहीं है, तात्पर्य यह है कि इसके समान और कोई रूप नहीं है ।

श्रूयते च—'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' इति । अत एवोपमाद्यविषयत्वम् । तथा च न चक्षुषा पश्यति कश्चिदप्येनं सर्वान्तरं परमात्मानम् ।

कथं तर्हि पश्यन्ति ? मनीषया अध्यवसायात्मिकया बुद्धया । मनसा संकल्पविकल्पात्मकेन । हृदा च हृदयेन च साधनभूतेन । हृदयं विना नान्यत्र परमात्मन उपलब्धिः सम्भवतीति मत्वा हृदा चेत्युक्तम् । अथवा न केवलं मनोबुद्धिमात्रेण अपि तु हृदा हृदयस्थेन च परमेश्वरेणानुगृहीताः सन्तो य एनं परमात्मानं विदुः—अयमहमस्मीति ते अमृता अमरधर्माणो भवन्ति ।

अथवा हृदा हृदयेन परमात्मना । तथा च हृत्स्थे परमात्मनि हृदयशब्दं निर्वक्ति—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमिति अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति' इति । तथा च तदधीनामात्मसिद्धिं दर्शयति श्रुतिः—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ इति ।

एवं यं विदित्वा अमृता भवन्ति तं, योगिन एव पश्यन्ति ॥ ७ ॥

श्रुति भी कहती है—'जिसका नाम महद्यश है, उस परमात्माकी तुल्यतामें कोई वस्तु नहीं है ।' अतः यह उपमादिका अविषय है । तथा इस सर्वान्तर्भूत परमात्माको कोई भी पुरुष नेत्रसे नहीं देख सकता ।

तो फिर इसे किस प्रकार देखते हैं ?—मनीषा अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धिसे, संकल्प-विकल्पात्मक मनसे और उसकी उपलब्धिके साधनभूत हृदयसे । हृदयसे अतिरिक्त और किसी जगह परमात्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती—ऐसा मानकर ही 'हृदयसे' ऐसा कहा गया है । अथवा [यों समझो कि] केवल मन और बुद्धिमात्रसे ही नहीं अपितु हृदयसे अर्थात् हृदयस्थित परमात्मासे अनुगृहीत होकर भी उसका दर्शन कर सकते हैं । [इस प्रकार] जो इस परमात्माको 'यह मैं ही हूँ' ऐसा जान लेते हैं, वे अमृत—अमरणधर्मा हो जाते हैं ।

अथवा 'हृदा'—हृदयसे यानी परमात्मासे । हृदयस्थित परमात्माके अर्थमें श्रुति 'हृदय' शब्दका इस प्रकार निर्वचन करती है—'वह यह आत्मा हृदयमें विद्यमान है, उसका 'हृद्यय' यह वाचक शब्द है, इसीसे उसे 'हृदयम्' ऐसा भी कहते हैं । इस प्रकार जाननेवाला पुरुष नित्यप्रति स्वर्गलोकमें जाता है ।' तथा उसके अधीन ही श्रुति अपनी सिद्धि दिखलाती है—'जिसकी भगवान्‌में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान्‌में है वैसी ही गुरुमें भी है, उस महात्माके प्रति ही उपर्युक्त अर्थ प्रकाशित होते हैं ।' इस प्रकार जिसे जानकर लोग अमर हो जाते हैं, उस परमात्माको योगिजन ही देखते हैं ॥ ७ ॥

विषयप्रवृत्तिकी अनर्थहेतुता

इदानीमिन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिरनर्थाय भवतीत्याह—

अब यह बतलाते हैं कि इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति अनर्थके लिये ही होती है—

द्वादश पूगाः सरितो देवरक्षिता मध्वीशते ।
तदनुविधायिनस्तदा संचरन्ति घोरम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ८ ॥

भगवान्से सुरक्षित बारह संसरणशील पूग (समूह) हैं। वे मधु (अपने-अपने विषयों) का नियमन करते हैं और उनका अनुवर्तन करते हुए फिर घोर संसारमें प्रवृत्त होते हैं। [वे जिससे सुरक्षित होकर मधुका नियमन करते हैं] उस सनातन भगवान्का योगिजन दर्शन करते हैं ॥ ८ ॥

ये द्वादश पूगाः कर्मज्ञानेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, द्वादशी बुद्धिः, तेषामनेकपुरुषापेक्षयैकैकस्य पूगत्वमुच्यते। सरितः सरणशीलाः, देवरक्षिता देवेन परमात्मना रक्षिताः। मधुवद् विषयं मधु ईशते नियमयन्ति, असांकर्येण स्वं स्वं विषयमनुभवन्तीत्यर्थः। यदैवमनुभवन्ति तदा तदनुविधायिनो विषयपराः संचरन्ति घोरं संसारम्। तस्मादिन्द्रियाणि विषयेभ्य उपसंहृत्य स्वात्मन्येव वशं नयेदित्यर्थः। येन रक्षिता मध्वीशते तं देवं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ८ ॥

जो बारह समूह हैं—कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन और बारहवीं बुद्धि—इनमेंसे प्रत्येक अनेक पुरुषोंसे सम्बद्ध है, इसलिये प्रत्येकको समूह कहा गया है। वे 'सरितः'—गतिशील और 'देवरक्षिताः'—देव यानी परमात्मासे रक्षित हैं और मधुका ईशन यानी मधुके समान अपने-अपने विषयका नियमन अर्थात् परस्पर संकरताको छोड़कर अपने-अपने विषयका अनुभव करते हैं। जब कि वे इस प्रकार विषयका अनुभव करते हैं, तब उनका अनुवर्तन करते हुए अर्थात् विषयपरायण होकर घोर संसारको प्राप्त होते हैं। अतः विषयोंसे इन्द्रियोंका उपसंहार कर उन्हें अपने ही अधीन करना चाहिये—ऐसा इसका तात्पर्य है। जिससे सुरक्षित होकर वे मधुका ईशन करते हैं, उस देवको योगिजन ही देखते हैं ॥ ८ ॥

किं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तत्राभिधानम्—

तथा उसीमें अब दृष्टान्त और दार्ष्टान्त कहे जाते हैं—

तदर्धमासं पिबति संचितं भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ९ ॥

[जिस प्रकार भ्रमर आधे मासमें संचित किये हुए मधुको शेष आधे मासमें पीता है, उसी प्रकार] यह भ्रमर (भ्रमणशील जीव) आधे मासमें (पूर्वजन्ममें) संचित किये हुए अपने मधु (कर्मफल) को इस जन्ममें भोगता है; क्योंकि परमात्माने समस्त भूतोंमें उनके हविर्भूत अन्नादिकी व्यवस्था कर दी है। ऐसे उस सनातन परमात्माको योगिजन ही देखते हैं ॥ ९ ॥

यथा मधुकरो भ्रमरोऽर्द्धमासोपार्जितं मधु अर्धमासं पिबति, एवमसावपि भ्रमरो भ्रमणशीलत्वात्संसारी तद्विषयं मधु अर्द्धमाससंचितमर्द्ध-

जिस प्रकार मधुकर—भ्रमर आधे मासमें उपार्जित मधुको आधे मासतक पीता रहता है, उसी प्रकार यह भ्रमर—भ्रमणशील होनेके कारण संसारी जीव भी अपनेसे सम्बद्ध आधे मासतक संचित किये हुए मधुको

मासं पिबति । पूर्वजन्मसंचितं कर्म अन्यस्मिन् जन्मनि भुङ्क्ते इति यावत् ।

आधे मासतक पीता रहता है । अर्थात् पूर्वजन्ममें उपार्जित कर्मको दूसरे जन्ममें भोगता है ।

भवेदप्यैहिकफलात्कर्मणः फलसिद्धिः कर्मानन्तरभावित्वात्; कथं पुनरामुष्मिकफलात्कर्मणः फलसिद्धिः स्यात्, कर्मणो विनाशित्वादित्याशङ्क्याह—ईशान इति । भवेदयं दोषः, यदि केवलात्कर्मणः फलसिद्धिः स्यात्, ईशानः परमेश्वरः कृतप्रयत्नापेक्षः सन् सर्वेषु प्राणिषु प्राणाग्निहोत्रस्येतरस्य च तत्कर्मानुसारेण हविर्भूतमन्नादिकमकल्पयत् । य ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ९ ॥

अब यह आशङ्का करके कि ऐहिक फलवाले कर्मसे तो फलकी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि वह कर्मके पीछे ही होती है, किंतु जिनका फल परलोकमें भोगना है, उन कर्मोंसे फलकी सिद्धि कैसे होगी; क्योंकि कर्म तो नाशवान् होते हैं*—कहते हैं—'ईशानः' इत्यादि । यदि फलकी सिद्धि केवल कर्मसे ही होती तो यह दोष हो सकता था, किंतु ईशान अर्थात् परमेश्वरने जीवके किये हुए प्रयत्नकी अपेक्षासे समस्त प्राणियोंमें प्राणाग्निहोत्र एवं अन्य कर्मके लिये उस कर्मके अनुसार उसके हविःस्वरूप अन्नादिकी व्यवस्था कर दी है । जिस परमेश्वरने समस्त भूतोंके लिये हविर्भूत अन्नादिकी व्यवस्था की है, उस भगवान्‌का योगिजन ही साक्षात्कार करते हैं ॥ ९ ॥

किंच, किमेते मध्वाशिनो बम्भ्रम्यमाणाः परिवर्तन्त एव सर्वदा, किंवा ज्ञानं लब्ध्वा मुक्ता भवन्तीत्याशङ्क्याह—

तथा ये जो भ्रमण करनेवाले मधुभोगी हैं, वे क्या सर्वदा घूमते ही रहते हैं अथवा ज्ञान प्राप्त करके अमर हो जाते हैं—ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपत्य ह्यपक्षकाः ।
तत्र ते पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथासुखम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १० ॥

वे पक्षहीन लोग हिरण्यपर्णमय अश्वत्थ-वृक्षको प्राप्त हो वहाँ पक्षयुक्त होकर सुखपूर्वक उड़ते रहते हैं । ऐसे उस सनातन भगवान्‌का योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ १० ॥

ये अपक्षका ज्ञानपक्षरहिता मध्वाशिनः परिवर्त्तन्ते, ते हिरण्यपर्णमश्वत्थं हितं च रमणीयं चेति हिरण्यं हितं रमणीयं च पर्णं

जो अपक्षक अर्थात् ज्ञानरूप पक्षरहित मधुभोगी लोग घूमते रहते हैं, वे हिरण्यपर्णमय अश्वत्थको—जो हित तथा रमणीय है, वह हिरण्य है अर्थात् जिस अश्वत्थवृक्षका

* यहाँ पूर्वपक्षीकी इस शङ्काका अनुवाद किया गया है कि यदि कर्मफलभोगका दाता कर्म ही है तो उन कर्मोंका फल तो मिल सकता है, जिनका भोग उसके अव्यवहित पश्चात्कालमें यहीं भोगना है; किंतु जिन अग्निहोत्रादि कर्मोंका फल स्वर्गादि है, जो कि कालान्तर और लोकान्तरमें मिलनेवाला है, वह कैसे भोगा जायगा; क्योंकि कर्म नाशवान् है और वही अपना फल-भोग कराता है । जब उसीका नाश हो गया, तब उसका फलभोग कौन करायेगा ? इसका उत्तर आगेके वाक्यसे दिया गया है ।

यस्याश्वत्थस्य । तथा चाह भगवान् वासुदेवः—'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इति । ते हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपत्य आरुह्य वेदसंयोगिब्राह्मणादिदेहं प्राप्येत्यर्थः । तत्रैव ब्राह्मणादिदेहे पक्षिणो ज्ञानिनो भूत्वा । तथा च ब्राह्मणम्—'ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो ये अविद्वांसस्ते अपक्षाः' इति । प्रपतन्ति यथासुखं प्रयत्नं कृत्वा मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । यं ज्ञात्वा प्रपतन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १० ॥

हितकर और रमणीय पर्ण (पत्रावली)है, जैसा कि भगवान् वासुदेव 'जिसके पत्ते वेद हैं' इस वाक्यसे कहते हैं, ऐसे उस हिरण्यपर्ण अश्वत्थ-वृक्षको अभिपत्य—आरूढ़ हो अर्थात् वेदसे संयोग रखनेवाले ब्राह्मणादि देहको प्राप्तकर, उस ब्राह्मणादि देहमें ही पक्षी—ज्ञानवान् हो, जैसा कि ब्राह्मणवाक्य है—'जो विद्वान् हैं, वे ही पक्षी हैं और जो अविद्वान् हैं, वे पक्षरहित हैं' यथासुख (सुखपूर्वक) उड़ते रहते हैं, अर्थात् प्रयत्न करके मुक्त हो जाते हैं । जिसका ज्ञान प्राप्त करके वे उड़ते हैं, उस परमात्माका योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ १० ॥

योगनिरूपण

इदानीं योगं दर्शयति—

अत्र योगका दिग्दर्शन कराते हैं—

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ११ ॥

अपानको प्राण लीन कर लेता है, प्राणको चन्द्रमा (मन) लीन कर लेता है, चन्द्रमाका सूर्य (बुद्धि) में उपसंहार हो जाता है और सूर्यको परमात्मा अपनेमें लीन कर लेता है, ऐसे उस सनातन भगवान्का योगिजन दर्शन करते हैं ॥ ११ ॥

अपानं गिरति उपसंहरति प्राणः । प्राणं गिरति चन्द्रमाः—मन उपसंहरति । मनसश्चन्द्रमा अधिदैवतं तस्मात् चन्द्रमसूशब्देन मन उच्यते । तं चन्द्रं मन आदित्यो बुद्धिर्गिरते, बुद्धेश्चाधिदैवतमादित्यः । तमादित्यं बुद्धिं गिरते परः परं ब्रह्म । एतदुक्तं भवति—समाधिवेलायामपानं प्राणे उपसंहृत्य प्राणं मनसि मनश्च बुद्धौ बुद्धिं परमात्मन्युपसंहृत्य स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनैवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अपानको प्राण ग्रहण कर लेता अर्थात् अपनेमें लीन कर लेता है । प्राणको चन्द्रमा यानी मन लीन कर लेता है । मनका अधिष्ठातृदेव चन्द्रमा है, इसलिये 'चन्द्रमा' शब्दसे मन कहा गया है । उस चन्द्रमा यानी मनको आदित्य अर्थात् बुद्धि ग्रहण कर लेती है; क्योंकि बुद्धिका अधिदैव आदित्य है । उस आदित्य यानी बुद्धिको पर—परब्रह्म ग्रहण कर लेता है । इससे यह कहा गया है कि समाधिकालमें अपानका प्राणमें उपसंहार कर तथा प्राणका मनमें, मनका बुद्धिमें और बुद्धिका परमात्मामें उपसंहार कर योगी अपने स्वरूपभूत चित्, सत्, आनन्द एवं अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे स्थित हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ११ ॥

ब्रह्मकी जीवरूपसे स्थिति

इदानीं परस्य जीवात्मनावस्थानं दर्शयति—

अब परमात्माकी जीवरूपसे स्थिति दिखलाते हैं—

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत्सततमुत्क्षिपेन्न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

जल (संसार) से ऊपर चलते हुए यह हंस (परमात्मा) अपने एक पादको [जलसे बाहर] नहीं निकालता । यदि यह उसे निकाल ले तो न मृत्यु हो और न अमरत्व ही । उस [हंसरूप] सनातन भगवान्का योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ १२ ॥

हन्त्यविद्यां तत्कार्यं चेति हंसः परमात्मा भूतभौतिकलक्षणात्संसारात् सलिलाद् उच्चरन् ऊर्ध्वं चरन् संसाराद् बहिरेव वर्तमान एकं जीवाख्यं पादं नोत्क्षिपति नोद्धरति नोपसंहरति, रूपंरूपं प्रतिरूपोऽवतिष्ठत इत्यर्थः । श्रूयते च कठवल्लीषु—'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' इति ।

अविद्या और उसके कार्यका हनन करता है, इसलिये परमात्मा हंस है; वह भूतभौतिकलक्षण संसाररूप सलिल (जल) से ऊपर चलता हुआ अर्थात् संसारसे बाहर ही रहता हुआ अपने जीवसंज्ञक एक पादको उत्क्षिप्त—उद्धृत यानी उपसंहृत नहीं करता; अर्थात् रूप-रूपमें उसके अनुरूप हुआ स्थित है । कठवल्लियोंमें ऐसा सुना भी जाता है कि 'इसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक अन्तरात्मा [रूप-रूपमें उसके अनुरूप हो रहा है] ।'

कस्मात्पुनरेकं पादं नोत्क्षिपतीत्यत्राह—तं जीवाख्यं पादं सततं संततयायिनं यद्युत्क्षिपेत् स्वमायया स्वमात्मानं प्राणाद्यनन्तभेदं कृत्वा तेष्वनुप्रविश्य जीवात्मना यदि नावतिष्ठेत्, तदा न मृत्युर्जननमरणादिलक्षणोऽनर्थः संसारो भवेत्, संसारिणो जीवस्याभावात् । तथा अमृतममृतत्वं मोक्षो न भवेत्, अननुप्रविष्टस्य दर्शनासम्भवात् ।

वह अपने एक पादको क्यों उद्धृत नहीं करता ? सो बतलाते हैं—उस जीवसंज्ञक एक सतत—सब ओर गये हुए पादको यदि वह निकाल ले अर्थात् अपनी मायासे अपनेको प्राणादि अनन्त भेदोंवाला करके उनमें अनुप्रविष्ट होकर जीवरूपसे स्थित न हो तब संसारी जीवका अभाव हो जानेके कारण न तो मृत्यु अर्थात् जन्म-मरणादिलक्षण संसाररूप अनर्थ ही हो और न अमृत—अमरत्व यानी मोक्ष ही हो; क्योंकि जो परमात्मा संसारमें अनुप्रविष्ट नहीं है, मोक्ष उसका भी नहीं देखा जाता ।

तथा च तदर्थमेवानुप्रवेशं दर्शयति—रूपं रूपमिति । तथा चाथर्वणी श्रुतिः—'एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् । स चेदुत्क्षिपेत्पादं न मृत्युर्नामृतं भवेत्' इति । 'एकं रूपं

इस प्रकार उस (बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था) के लिये ही 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' यह श्रुति परमात्माका अनुप्रवेश दिखलाती है । ऐसा ही यह आथर्वणी श्रुति भी कहती है—'जलसे ऊपर चलता हुआ यह हंस अपना एक पाद नहीं निकालता । यदि वह उस पादको निकाल ले तो न मृत्यु हो और न अमरत्व' तथा 'जो एक ही

बहुधा यः करोति' इति च । यः पादरूपेण जीवात्मना त्रिपादरूपेण चित्सदानन्दाद्वितीयेन ब्रह्मात्मनावस्थितस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १२ ॥

रूपको अनेक प्रकारका कर लेता है' यह श्रुति भी ऐसा ही दिखलाती है। इस प्रकार जो एक पादरूप जीवभावसे तथा त्रिपादरूप सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मभावसे स्थित है, उस परमात्माका योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ १२ ॥

केन तर्ह्युपाधिना परः पादात्मना अवतिष्ठत इत्याशङ्क्य परस्यैव लिङ्गोपाधिकं जीवात्मानं दर्शयति—

तो फिर वह परमात्मा किस उपाधिके कारण पादरूपसे स्थित है ? ऐसी आशङ्का करके उस परमात्माके ही लिङ्गदेहोपाधिक जीवभावको दिखलाते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम्।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं पश्यन्ति मूढा न विराजमानम् ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १३ ॥

वह अन्तर्यामी पुरुष (पूर्ण परमात्मा) लिङ्गदेहके सम्बन्धसे अङ्गुष्ठमात्र हुआ ही सर्वदा जाता है, उस देदीप्यमान, सर्वेश्वर, स्तवनीय एवं अपनेको उपाधिके अनुरूप कर लेनेवाले आदिपुरुषको मूढजन नहीं देखते। उस सनातन परमात्माको तो योगिजन ही देखते हैं ॥ १३ ॥

स एव सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽन्तरात्मा सर्वभूतान्तरात्मा पुरुषः पूर्णः परमात्मा लिङ्गस्य योगेन अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रपरिमाणपरिच्छिन्नः सन् याति संसरति नित्यम् ।

वही सच्चिदानन्दाद्वितीय अन्तरात्मा—सर्वभूतान्तर्यामी पुरुष—पूर्ण परमात्मा लिङ्गदेहके सम्बन्धसे अङ्गुष्ठमात्र—अङ्गुष्ठमात्र परिमाणसे परिच्छिन्न होकर सर्वदा जाता यानी जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होता है।

कस्मात् पुनः कारणाल्लिङ्गयोगेनाङ्गुष्ठमात्रः संसरति ? तत्राह—यो लिङ्गस्य योगेनाङ्गुष्ठमात्रः संसरति तमीशं सर्वस्येशितारम् ईड्यं स्तुत्यम् अनुकल्पं सर्वमनुप्रविश्यात्मना कल्पयतीत्यनुकल्पम् आद्यम् आदौ भवं विराजमानं दीप्यमानं यस्मान्मूढा अविवेकिनो देहद्वयात्माभिमानिनो न पश्यन्ति तस्मादात्मनो ब्रह्मभावानवगमात्संसरन्तीति । यमात्मानम् अपश्यन्तः संसरन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १३ ॥

किंतु वह किस कारणसे लिङ्गदेहके सम्बन्धसे अङ्गुष्ठमात्र हुआ जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त होता है ? इसपर कहते हैं—क्योंकि जो लिङ्गदेहके सम्बन्धसे अङ्गुष्ठमात्र हुआ जीव संसारको प्राप्त होता है, उस ईश—सबका ईशन करनेवाले, ईड्य, स्तुत्य और अनुकल्प—सबमें अनुप्रविष्ट हो जीवरूपसे अपनेको तदनुरूप कर लेनेवाले, आद्य—सबके आदिभूत एवं देदीप्यमान परमात्माको मूढ—देहाभिमानी अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म देहोंमें अभिमान रखनेवाले पुरुष नहीं देखते, इसीसे—अपने ब्रह्मभावका ज्ञान न होनेके कारण ये संसारको प्राप्त होते हैं। जिस आत्माको न देखनेके कारण वे संसारको प्राप्त होते हैं, उसे योगिजन ही देखते हैं ॥ १३ ॥

इन्द्रिय और इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंकी अनर्थहेतुता

इदानीमिन्द्रियाणां च विषयाणां चानर्थहेतुत्वं दर्शयति—

अब इन्द्रियोंका और विषयोंका अनर्थहेतुत्व प्रदर्शित करते हैं—

गूहन्ति सर्पा इव गह्वरेषु क्षयं नीत्वा स्वेन वृत्तेन मर्त्यान् ।
ते विप्रमुह्यन्ति जना विमूढास्तैर्दत्ता भोगा मोहयन्ते भवाय ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १४ ॥

जिस प्रकार सर्प अपने व्यवहारसे मनुष्योंको क्षयको प्राप्त कर बिलोंमें छिप जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने गोलकोंमें छिप जाती हैं । वे मूढ़लोग उनके द्वारा अत्यन्त मोहित हो जाते हैं; क्योंकि उनके द्वारा समर्पित भोग उन्हें पुनर्जन्मके लिये मोहमें डाल देते हैं । उस सनातन भगवान्को तो योगिजन ही देखते हैं ॥ १४ ॥

यथा सर्पा गह्वरेभ्यो निष्क्रम्य स्वेन वृत्तेन विषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति स्वात्मानं प्रच्छादयन्ति; एवम् इन्द्रियसर्पाः श्रोत्रादिषु शयानाः श्रोत्रादिभ्यो निर्गत्य स्वेन वृत्तेन विषयविषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहन्ति स्वमात्मानं प्रच्छादयन्ति, ते विप्रमुह्यन्ति विषयविषाभिभूता विशेषेण मुह्यन्ति व्यतिरिक्तं न किञ्चिज्जानन्तीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः' इति ।

जिस प्रकार सर्प बिलोंसे निकलकर अपने विष-प्रदानरूप व्यापारसे मनुष्योंको क्षयको प्राप्त कर अपनेको बिलोंमें छिपा लेते हैं, इसी प्रकार श्रोत्रादिमें शयन करते हुए इन्द्रियरूप सर्प उन श्रोत्रादिसे निकलकर विषय-विषप्रदानरूप अपने आचरणसे मनुष्योंको क्षयको प्राप्तकर अपनेको गह्वरोंमें (इन्द्रिय-गोलकोंमें) छिपा लेते हैं । तथा वे लोग विषयरूप विषसे आक्रान्त हो विशेषरूपसे मोहको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उन्हें किसी अन्य वस्तुका ज्ञान नहीं रहता; जैसा कि 'जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्यासे सम्यक् प्रकारसे आलिङ्गित हुआ पुरुष [बाहर-भीतर कुछ नहीं जानता]' इत्यादि श्रुति भी कहती है ।

तैरिन्द्रियसर्पैर्दत्ता भोगा विषकल्पा विषया मर्त्यान् मोहयन्ते, पुनः पुनर्मोहहेतवो भवन्ति । यदिदं विषयैर्विमोहनं तद् भवाय गर्भजन्मजरामरणसंसाराय भवति । यमनवद्यमनुकल्पमाद्यम् अदृष्ट्वा विषयविषान्धा मुह्यन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १४ ॥

उन इन्द्रियरूप सर्पोंके दिये हुए भोग—विषतुल्य विषय मनुष्योंको मोहित कर देते हैं—वे बारंबार उनके मोहके कारण होते हैं । यह जो विषयोंसे मोहित होना है, वह जन्म अर्थात् गर्भ, जन्म, जरा और मरण-रूप संसारके ही लिये होता है । जिस निर्मल और उपाधिके अनुरूप हो जानेवाले आदिपुरुषको न देखकर पुरुष विषयरूप विषसे अन्धे होकर मोहको प्राप्त होते हैं, उसे योगिजन ही देखते हैं ॥ १४ ॥

अनात्मज्ञकी निन्दा

सम्मतिमाह—

इस विषयमें यह सम्मति देते हैं—

नात्मानमात्मस्थमवैति मूढः संसारकूपे परिवर्तते यः ।
त्यक्त्वाऽऽत्मरूपं विषयांश्च भुङ्क्ते स वै जनो गर्दभ एव साक्षात् ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १५ ॥

जो संसारकूपमें भ्रमता रहता है, वह मूढ़ पुरुष अपने अन्तःकरणमें स्थित आत्माको नहीं जानता। जो पुरुष आत्मस्वरूपको छोड़कर विषयोंको सेवन करता है, वह तो साक्षात् गधा ही है। उस सनातन भगवान्‌का योगिजन दर्शन करते हैं ॥ १५ ॥

मूढः—आत्मानात्मविवेकशून्यः पुमान् आत्मस्थम् आत्मनि तिष्ठन्तं न जानाति स एवाहमिति, अतः कारणात् संसारकूपे संसार एव कूपस्तस्मिन् परिवर्तते श्वशूकरादियोनिं प्राप्नोति, अपरोक्षात्मचैतन्यं देहादिदोषरहितं सर्वावभासकं येन सूर्यस्तपति स एव तत्स्वरूपं परित्यज्यानित्यान् विषयान् भोगान् भुङ्क्ते, स जनो न, तर्हि किम्? साक्षाद्गर्दभ एव। एवंविधं पूर्वोक्तमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥१५॥

मूढ़ अर्थात् आत्मा-अनात्माके विवेकसे रहित पुरुष आत्मस्थ—अन्तःकरणमें स्थित आत्माको 'मैं ऐसा ही हूँ' इस प्रकार नहीं जानता। इसी कारणसे वह संसारकूपमें—संसार ही है कूप उसमें—भ्रमता रहता है अर्थात् श्वान एवं शूकरादि योनियोंको प्राप्त होता रहता है। देहादिदोषसे रहित, सबका प्रकाशक, अपरोक्ष आत्मचैतन्य, जिससे कि सूर्य तपता है, वही उसका स्वरूप है। उसे त्यागकर जो अनित्य विषयभोगोंको भोगता है, वह मनुष्य नहीं है; तो फिर क्या है? साक्षात् गधा ही है। इस प्रकारके पूर्वोक्त आत्माका योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ १५ ॥

आत्मज्ञानका महत्त्व

ज्ञानिनां मोक्षस्वरूपमाह—

ज्ञानियोंके मोक्षका स्वरूप बतलाते हैं—

असाधना वापि ससाधना वा समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य युक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

जो लोग साधनहीन हैं अथवा जो साधनसम्पन्न हैं, उन दोनों ही प्रकारके मनुष्योंमें यह [आत्मस्वरूप] समानरूपसे देखा जाता है। यह अमृत (मोक्ष) और इतर (संसार) के लिये भी समान ही है, किंतु जो साधनसम्पन्न हैं, उन्हें उसमें मधुका झरना प्राप्त होता है। उस सनातन भगवान्‌को योगिजन ही देखते हैं ॥ १६ ॥

ये असाधनाः शमदमादिसाधनरहिताः, ये च शमदमादिसाधनयुक्ताः ससाधनाः, तेषु समानं साधारणमात्मस्वरूपं दृश्यते मानुषेषु । तथा समानममृतस्य मोक्षस्य इतरस्य संसारस्य सति चासति च तेषां मध्ये ये युक्ताः शमदमादिसाधनयुक्ताः, ते तस्मिन् विष्णोः परमे पदे मध्वो मधुन उत्सं समापुः पूर्णानन्दं ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यमुत्सं सम्पूर्णानन्दं युक्ताः प्राप्नुवन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १६ ॥

जो असाधन अर्थात् शम-दमादि साधनोंसे रहित हैं तथा जो शम-दमादि साधनसम्पन्न यानी ससाधन हैं, उन [दोनों ही प्रकारके] मनुष्योंमें आत्मस्वरूप समान—एक-सा देखा जाता है। तथा अमृत—मोक्ष एवं इतर—संसार इन दोनोंके भी रहने और न रहनेमें वह समान ही है; किंतु जो उनमें लगे हुए हैं अर्थात् शम-दमादि साधन-सम्पन्न हैं, उन्होंने उस भगवान् विष्णुके परमपदमें मधुका झरना प्राप्त किया है अर्थात् वे पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। जिस झरनेको अर्थात् पूर्णानन्दको साधन-सम्पन्न पुरुष प्राप्त करते हैं, उसे योगिजन ही देखते हैं ॥ १६ ॥

किं च—

तथा—

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति तदाहुतं चाहुतमग्निहोत्रम् ।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

वह ब्रह्म दोनों लोकोंको ज्ञानसे व्याप्त करके जाता है। उस (आत्मज्ञान) के द्वारा बिना हवन किया हुआ अग्निहोत्र भी हुत हो जाता है। अतः वह ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्या तेरेमें लघुता उत्पन्न न करे। उस (ब्रह्म) का नाम प्रज्ञान है, उसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। तथा उस सनातन भगवान्‌का योगिजन ही दर्शन करते हैं ॥ १७ ॥

उभौ लोकौ इहलोकपरलोकौ विद्यया ब्रह्मात्मत्वविषयया व्याप्य याति तत्पूर्णानन्दं ब्रह्म । यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति, तस्मादहुतं चाग्निहोत्रम् अनेनात्मज्ञानेन आहुतमाभिमुख्येन हुतं भवति। सर्वमग्निहोत्रादिकं कर्मफलं चानेनैव सम्पादितं भवतीत्यर्थः। यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति यस्मादहुतं चाग्निहोत्रं हुतं भवति, तस्मान्मा ते तव ब्राह्मी ब्रह्मविषया विद्या लघुतां मर्त्यभावं कर्मवदादधीत न करोतु, अपि तु प्रज्ञानं

वह पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म इहलोक और परलोक दोनोंको ब्रह्मात्मत्व-विषयिनी विद्यासे व्याप्त करके जाता है। क्योंकि वह दोनों लोकोंको विद्यासे प्राप्त करके जाता है, इसलिये इस आत्मज्ञानके द्वारा बिना हवन किया हुआ अग्निहोत्र भी सम्यक् प्रकारसे हुत हो जाता है अर्थात् अग्निहोत्रादि समस्त कर्मोंका फल इसीसे प्राप्त करा दिया जाता है। क्योंकि यह दोनों लोकोंको विद्यासे व्याप्त करके जाता है और क्योंकि इसके द्वारा बिना हवन किया हुआ भी अग्निहोत्र हुत हो जाता है, अतः तेरी ब्रह्मविषयिनी विद्या कर्मके समान तेरेमें लघुता—मर्त्यभाव

तमसः परं परमात्मानमात्मत्वेन सम्पादयतु। यदा ब्रह्मविद्याव्यापृतस्य परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छतः प्रज्ञानमिति नाम स्यात्, ब्रह्मेति नाम भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति। तत्प्रज्ञानं ब्रह्म धीरा धीमन्तो लभन्ते, तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १७ ॥

उत्पन्न न करे, अपितु प्रज्ञान—अज्ञानातीत परमात्माको आत्मभावसे प्राप्त करावे; क्योंकि ब्रह्मविद्यामें प्रवृत्त अर्थात् परमात्माको आत्मभावसे जाननेवाले पुरुषका 'प्रज्ञान' यह नाम है अर्थात् उसका 'ब्रह्म' नाम है, जैसा कि 'प्रज्ञान ब्रह्म है' यह श्रुति कहती है और उस प्रज्ञानसंज्ञक ब्रह्मको धीर—बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करते हैं तथा उसे योगिजन ही देखते हैं ॥ १७ ॥

किं च—

तथा—

एवंरूपो महानात्मा पावकं पुरुषो गिरन्।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहात्मा न रिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

(जीवरूप) अग्निको अपनेहीमें लीन कर लेनेवाला ऐसा (प्रज्ञानैकरसस्वरूप) पुरुष महानात्मा (ब्रह्मस्वरूप) हो जाता है। निश्चय ही जो उस पुरुषको जानता है, उसका आत्मा इस देहमें नाशको प्राप्त नहीं होता। उस सनातन भगवान्‌को योगिजन ही देखते हैं ॥ १८ ॥

य एवंरूपः प्रज्ञानैकरसब्रह्मस्वरूपः सन्नास्ते, स आत्मा महान् सम्पद्यते ब्रह्मैव सम्पद्यत इत्यर्थः। पावकमग्निं सर्वोपसंहृतिरूपं कारणं सकारणं कार्यं गिरन् स्वात्मन्युपसंहरन् यो वै तं पुरुषं ज्ञानैकरसं पुरुषं पूर्णं पुरिशयं वेद अयमहमस्मीति साक्षाज्जानाति, तस्य प्रज्ञानरूपं परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छत इहास्मिन्नेव देहे आत्मा न रिष्यते न विनश्यति। विदुष उत्क्रान्तेरभावात्, उत्क्रान्तिनिमित्तत्वाद्विनाशस्य। तथा च श्रुतिः प्रश्नपूर्वकमुत्क्रान्त्यभावं दर्शयति—'उदस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति आहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यः, अत्रैव समवलीयन्ते न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति

जो इस प्रकार अर्थात् प्रज्ञानैकरसब्रह्मस्वरूप हुआ ही स्थित है, वह आत्मा पावक—अग्नि—सर्वोपसंहाररूप कारण अर्थात् कारणके सहित सम्पूर्ण कार्यवर्गका अपनेमें उपसंहार कर लेनेके कारण महान् यानी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। निश्चय ही जो कोई उस पुरुष—ज्ञानैकरसस्वरूप पूर्ण पुरुष यानी देहस्थित आत्माको 'यह (ब्रह्म) मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात्‌रूपसे जानता है, प्रज्ञानस्वरूप परमात्माको आत्मभावसे जाननेवाले उस पुरुषका आत्मा इसी देहमें नाशको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ज्ञानीका उत्क्रमण (लोकान्तर-गमन) नहीं होता और आत्माका नाश उत्क्रमणके ही कारण होता है। इसी प्रकार 'इस ज्ञानीके प्राण उत्क्रमण करते हैं या नहीं?—याज्ञवल्क्यने कहा—नहीं, वे यहीं लीन हो जाते हैं, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते।

ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद' इति च । यं विदित्वा न रिष्यते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥१८॥

जो ऐसा जानता है, वह ब्रह्मस्वरूप हुआ ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है' यह श्रुति भी प्रश्नपूर्वक उत्क्रमणका अभाव ही दिखलाती है । जिसे जानकर आत्माका नाश नहीं होता, उस भगवान्‌को योगिजन ही देख पाते हैं ॥१८॥

यस्मात्तद्विज्ञानादेव नात्मनो विनाशः—

क्योंकि आत्माके ज्ञानसे ही उसका नाश नहीं होता—

तस्मात्सदा सत्कृतः स्यान्न मृत्युरमृतं कुतः ।
सत्यानृते सत्यसमानुबन्धिनी सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १९ ॥

इसलिये सर्वदा सत्कृत (सत्स्वरूप) होकर रहे । जब मृत्यु नहीं है, तब अमरत्व ही कहाँ है ? सत्य और असत्य—ये दोनों समानरूपसे सत्यके आश्रित हैं; क्योंकि सत् और असत्—इन दोनोंका मूल एक ही है । [वे जिसके अधीन हैं] उस सनातन भगवान्‌को योगिजन ही देख पाते हैं ॥ १९ ॥

सदा सर्वदाहर्निशं सत्कृतः स्यात् सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनाभिमन्येत यः, स सदा सत्कृतो भवति । तस्य न मृत्युः—जननमरणलक्षणः संसारो न भवेत् । अमृतं कुतः, मृत्युसापेक्षत्वादमृतत्वस्य तदभावे कुतः प्रसक्तिः । तथा च श्रुतिः—'मृत्युर्नास्त्यमृतं कुतः' इति ।

अतः सदा-सर्वदा अर्थात् रात-दिन सत्कृत रहना चाहिये । जो अपनेको सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे मानता है, वही सदा सत्कृत होता है । उसे मृत्यु यानी जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्ति नहीं हो सकती । फिर अमृत ही कैसे हो सकती है, क्योंकि अमृतत्व तो मृत्युकी अपेक्षासे है; अतः मृत्युका अभाव होनेके कारण अमरत्वका भी कैसे प्रसङ्ग हो सकता है । ऐसा ही 'मृत्युर्नास्त्यमृतं कुतः' यह श्रुति भी कहती है ।

सत्यानृते च वर्तेते सत्यसमानुबन्धिनी परमार्थसत्यमेकमधिष्ठानमनुबध्य वर्तेते रज्ज्वामिव सर्पः । कथमेतदवगम्यते सत्यानृते सत्यसमानुबन्धिनीति ? तत्राह—सतश्च लौकिकस्य योनिः कारणम् असतश्च व्यावहारिकस्य रजतादेः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म

सत्य और असत्य तो सत्यसमानुबन्धी अर्थात् एक ही परमार्थसत्यरूप अधिष्ठानका आश्रय लेकर विद्यमान हैं, जिस प्रकार कि रस्सीमें सर्प । यह बात कैसे जानी जाती है कि सत्य और असत्य एक ही सत्यके आश्रित हैं ? इसपर कहते हैं—क्योंकि सत् यानी लौकिक पदार्थोंका कारण और असत्—रजतादि व्यावहारिक पदार्थोंका कारण * एकमात्र अद्वितीय ब्रह्मको ही बतलाते

---

* महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठसूरिने यहाँ 'सत्' का अर्थ कार्य और 'असत्' का अर्थ कारण किया है । भगवान् भाष्यकारने 'सत्' का अर्थ लौकिक और 'असत्' का व्यावहारिक रजतादि किया है । अतः दोनों अर्थोंके सामञ्जस्यकी दृष्टिसे 'रजतादि' से रजतादि धातु समझना चाहिये और 'लौकिक' से रजतादिके कार्यभूत कुण्डलादि ।

यस्मात् प्रवदन्ति तस्मात्सत्यानृते स्वकारणभूतसत्यसमानुबन्धिनीति । यदात्मतत्त्वज्ञानात्मकारणान्मृत्योर्विनाशः, यमनुबध्य सत्यानृते प्रवर्तेते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १९ ॥

हैं; अतः सत्य और अनृत अपने कारणभूत सत्यके साथ समानरूपसे बँधे हुए हैं। जिस आत्मतत्त्वके ज्ञानके कारण मृत्युका नाश हो जाता है तथा जिसके आश्रित सत्य और अनृत दोनों विद्यमान हैं, उसे योगिजन ही देखते हैं ॥ १९ ॥

आत्माका सर्वकारणत्व

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदये निविष्टः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २० ॥

अन्तरात्मा पुरुष अङ्गुष्ठपरिमाणमात्र है । वह अजन्मा होकर भी हृदयमें स्थित होनेसे चराचररूप हो [अपने शुद्धस्वरूपसे] दिखायी नहीं देता । सूक्ष्मदर्शी विद्वान् अहर्निश सावधान रह उसका अनुभव करके कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

आकाशादिदेहान्तं जगत् सृष्ट्वा हृदये निविष्टः अजः चरः चराचरात्मा सन्न दृश्यते स्वेनात्मना चित्सदानन्दाद्वितीयेन । तम् अहोरात्रम् अतन्द्रितो भूत्वान्नादिकोशपञ्चकेभ्यो निष्क्रम्य सर्वान्तरात्मानं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः कृतार्थः सन्नित्यर्थः ॥ २० ॥

आकाशसे लेकर देहपर्यन्त सम्पूर्ण संसारकी रचना कर हृदयमें प्रविष्ट हुआ वह अजन्मा पुरुष चराचररूप होनेके कारण अपने सच्चिदानन्दाद्वितीयस्वरूपसे दिखायी नहीं देता । उसे अहर्निश सावधान रहकर अन्नादि पाँचों कोशोंसे पृथक्कर सबका अन्तरात्मा जान सूक्ष्मदर्शी विद्वान् प्रसन्न यानी कृतार्थ हो जाता है ॥२०॥

ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वमाह—

अब ब्रह्मका जगत्कारणत्व बतलाते हैं—

तस्माच्च वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रलयस्तथा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्माच्च प्राण आगतः ॥ २१ ॥
तत्प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद्यशः ।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र च ॥ २२ ॥

उसीसे वायु[1] उत्पन्न हुआ है और उसीमें इसका लय होता है । तथा उसीसे अग्नि (भोक्तृवर्ग) और सोम (भोग्यवर्ग) एवं उसीसे प्राण (देहेन्द्रियादि संघात) उत्पन्न हुआ है । लोक उसीके आश्रित हैं । वह अमृत

१. यहाँ 'वायु' शब्द पाँचों भूतोंको उपलक्षित करता है ।

है, वह ब्रह्म है और वही यशस्वरूप है। उसीसे समस्त भूत उत्पन्न हुए हैं और उसीमें वे लीन हो जाते हैं ॥ २१-२२ ॥

श्लोकौ स्पष्टौ ॥ २१-२२ ॥

दोनों श्लोक स्पष्ट हैं ॥ २१-२२ ॥

सर्वमिदं ब्रह्मणः सकाशादुद्भूतं तत्रैव लीयत इत्युक्तं तदेव विवृणोति—

यह सब ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है और उसीमें लीन हो जाता है—यह बतलाया गया; अब उसीकी व्याख्या करते हैं—

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च दिशश्च शुक्लं भुवनं बिभर्ति।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति तस्मात् समुद्रा विहिता महान्तः ॥ २३ ॥

वह शुक्ल (शुद्ध ब्रह्म) ही [जीव और ईश्वर] दोनों देवोंको, पृथिवीको, स्वर्गको, दिशाओंको एवं सम्पूर्ण भुवनको धारण किये हुए है। उसीसे दिशाएँ और नदियाँ प्रवाहित होती हैं तथा उसीसे महान् समुद्र हुए हैं ॥ २३ ॥

देवौ जीवेश्वरौ शुक्लं ब्रह्म कर्तृ बिभर्ति। तस्माद् ब्रह्मणः सकाशाद् दिश उत्पद्यन्ते 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इति श्रुतेरर्थः प्रतिपादितः ॥ २३ ॥

शुक्ल—ब्रह्म, जो कर्ता है, जीव और ईश्वर दोनों देवोंको धारण करता है, उस ब्रह्मसे ही दिशाएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यहाँ 'हे गार्गि! इस अक्षरके शासनमें ही सूर्य और चन्द्रमा विधृत होकर स्थित हैं' इस श्रुतिका अर्थ बतलाया गया है ॥ २३ ॥

ब्रह्मकी अनन्तता

इदानीं ब्रह्मणोऽनन्तत्वं कथयति—

अब ब्रह्मका अनन्तत्व बतलाते हैं—

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षानाहृत्य सम्पतेत्।
नान्तं गच्छेत् कारणस्य यद्यपि स्यान्मनोजवः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

जो पुरुष सहस्रों पङ्ख लगाकर उड़े और वह यदि मनके समान भी वेगवाला हो तो भी वह सबके कारणभूत परमात्माका अन्त नहीं पा सकता। उस सनातन भगवान्‌को तो योगिजन ही देखते हैं ॥ २४ ॥

यः पुरुषः सहस्राणां सहस्रं पक्षानाहृत्यात्मनः पक्षान् कृत्वा सम्पतेदनेकशः कोटिकल्पमपि पुरुषो नान्तं गच्छेत् सर्वकारणस्य परमात्मनः,

जो पुरुष सहस्रों पङ्ख लगाकर अर्थात् अपने सहस्रों पङ्ख उत्पन्न करके अनेक प्रकारसे करोड़ों कल्पपर्यन्त भी उड़े तो भी वह सबके कारणभूत परमात्माका

यद्यप्यसौ मनोजवः स्यात् तथापि तस्यान्तं न गच्छेत् । यस्मादन्तं न गच्छेत् तस्मादनन्तः परमात्मेत्यर्थः । योऽनन्तः परमात्मा तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ २४ ॥

अन्त नहीं पा सकता । वह यद्यपि मनके समान वेगवान् हो तो भी उसका अन्त नहीं पा सकता । क्योंकि कोई भी उसका अन्त नहीं पा सकते, इसलिये तात्पर्य यह है कि परमात्मा अनन्त है । ऐसा जो अनन्त परमात्मा है, उसे योगिजन ही देखते हैं ॥ २४ ॥

किंच—

तथा—

अदर्शने तिष्ठति रूपमस्य पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः ।
हीनो मनीषी मनसाभिपश्येद् य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २५ ॥

इस परमात्माका रूप दृष्टिकी पहुँचसे परे है । जिनका अन्तःकरण सम्यक् प्रकारसे दीप्त है, वे ही इसे देख पाते हैं । अतः जो राग-द्वेषसे रहित है, वह बुद्धिमान् पुरुष ही इसे अन्तःकरणके द्वारा देख सकता है । जो इसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥ २५ ॥

अदर्शने दर्शनायोग्यविषये तिष्ठति रूपमस्य परमात्मनः । तथा च श्रुतिः—'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य' इति । पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः । यद्यपि दर्शनायोग्ये तिष्ठति तथापि परमात्मानं पश्यन्ति । के ते ? सुसमिद्धसत्त्वाः सुष्ठु समिद्धं सम्यग्दीप्तं सत्त्वमन्तःकरणं यज्ञादिभिर्विमलीकरणसंस्कारेण येषां ते सुसमिद्धसत्त्वाः ।

इस परमात्माका रूप अदर्शन—दर्शनके अयोग्य हुआ स्थित है, जैसा कि 'इसका रूप दृष्टिके अधिकारमें नहीं है' यह श्रुति कहती है । तथापि इसे सम्यक् शुद्धचित्त पुरुष देखते हैं । यद्यपि यह दर्शनके अयोग्य हुआ स्थित है तो भी इस परमात्माका दर्शन करते ही हैं । वे दर्शन करनेवाले कौन हैं ?—'सुसमिद्धसत्त्वाः'—अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाले यज्ञादि संस्कारोंसे जिनका सत्त्व—अन्तःकरण सम्यक् प्रकारसे समिद्ध—दीप्त है, वे सुसमिद्धसत्त्व हैं ।

यस्मादेवं तस्माद्धीनो रागद्वेषादिमलरहितो विशुद्धसत्त्वो मनीषी मनसाभिपश्येत् । य एनं परमात्मानं विदुरहमस्मीति अमृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २५ ॥

क्योंकि ऐसा है, इसलिये हीन यानी रागद्वेषादि मलसे रहित विशुद्धचित्त बुद्धिमान् पुरुष मनके द्वारा इसे देख सकता है । जो इस परमात्माको 'यह मैं हूँ' ऐसा जानते हैं, वे अमृत—अमरणधर्मा हो जाते हैं ॥ २५ ॥

आत्मज्ञकी निःशोकता

इमं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु स किं शोचेत्ततः परम् ॥ २६ ॥

देहेन्द्रियादि अन्यान्य वस्तुओंमें अभिमान करनेवाले समस्त प्राणियोंमें जो इस आत्माको अनुगत देखता है, वह ऐसा होनेके पश्चात् फिर किस बातकी चिन्ता करेगा ॥ २६ ॥

इमं सर्वान्तरं सर्वभूतेषु सर्वप्राणिष्वात्मानं योऽनु पश्यति । कथंभूतेष्वनुपश्यति—अन्यत्रान्यत्र देहेन्द्रियादियुक्तेषु शरीराद्यभिमानिषु स किं शोचेत्ततः परं सर्वभूतेषु स्वात्मानं पश्यन् ततः परं किमर्थमनुशोचति सर्वभूतस्थमात्मानमनुपश्यन् कृतार्थत्वान्नानुशोचतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति ॥ २६ ॥

जो सम्पूर्ण भूत अर्थात् समस्त प्राणियोंमें इस आत्माको देखता है । किस प्रकारके प्राणियोंमें देखता है ?—अन्यत्र-अन्यत्र अर्थात् देह और इन्द्रिय आदिसे युक्त शरीरादिमें अभिमान रखनेवाले प्राणियोंमें, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने आत्माका अनुभव करते हुए फिर क्यों शोक करेगा ? तात्पर्य यह कि आत्माको सर्वभूतस्थ देखनेसे कृतार्थ हो जानेके कारण वह फिर अनुशोक (पश्चात्ताप) नहीं करता । ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—'उस अवस्थामें सबमें एकत्वको अनुगत देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है' ॥ २६ ॥

आत्मज्ञकी आप्तकामता

तदेवाह—

वही बात कहते हैं—

यथोदपाने महति सर्वतःसम्प्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु भूतेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार सब ओर जलसे भरे हुए महान् जलाशयके रहते हुए पुरुषको [क्षुद्र जलाशयोंसे] कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार समस्त भूतोंमें आत्मदर्शन करनेवाले ब्रह्मवेत्ताको किसी प्रकारका प्रयोजन नहीं रहता ॥ २७ ॥

यथा सर्वतःसम्प्लुतोदके महत्युदपाने कृतकृत्यस्य पुंसोऽर्थो नास्ति, एवं सर्वेषु भूतेषु आत्मानं विजानतो ब्राह्मणस्य किंचिदपि प्रयोजनं न विद्यत इत्यर्थः । आत्मदर्शनेनैव कृतार्थत्वादिति भावः । तथा चाह भगवान् वासुदेवः—'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः' इति ॥ २७ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र जलसे भरे हुए महान् जलाशयके रहते हुए कृतकृत्य (जिसका प्रयोजन पूर्ण हो गया है उस) पुरुषको क्षुद्र जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, उसी प्रकार तात्पर्य यह है कि समस्त भूतोंमें आत्माको अनुभव करनेवाले ब्रह्मनिष्ठको कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि वह आत्मदर्शनसे ही कृतार्थ हो जाता है—ऐसा इसका भाव है । ऐसा ही 'सम्पूर्ण प्राणियोंमें उसके प्रयोजनका आधारभूत भी कोई नहीं रहता' इस वाक्यसे भगवान् वासुदेवने भी कहा है ॥ २७ ॥

स्वानुभव-प्रदर्शन

इदानीमुक्तस्यार्थस्य द्रढिम्ने वामदेवादिवत् स्वानुभवं दर्शयति—

अब उपर्युक्त अर्थकी पुष्टिके लिये वामदेवादिके समान अपना अनुभव प्रदर्शित करते हैं—

अहमेवास्मि वो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
आत्माहमस्य सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥२८॥

मैं ही तुम्हारा माता-पिता हूँ और मैं ही तुम्हारा पुत्र हूँ । यह जो कुछ है और जो कुछ नहीं है, इस सबका मैं ही आत्मा हूँ ॥ २८ ॥

हे धृतराष्ट्र ! अहमेवास्मि वो युष्माकं माता जनयित्री पिता अपि अहमेव । युष्माकं पुत्रो दुर्योधनादिरहमस्मि । किंबहुना ? आत्मा अहमस्मि सर्वस्य प्राणिजातस्य यच्च नास्ति यदस्ति च तस्याहमेवात्मा ॥ २८ ॥

हे धृतराष्ट्र ! मैं ही तुम्हारी जन्मदात्री माँ हूँ और मैं ही पिता हूँ तथा तुम्हारा पुत्र—दुर्योधनादि भी मैं ही हूँ । अधिक क्या ? सम्पूर्ण प्राणिसमूहका मैं ही आत्मा हूँ—जो कुछ है और जो कुछ नहीं है, उस सबका मैं ही आत्मा हूँ ॥ २८ ॥

एवं तावदाधिभौतिकं पित्रादिकं दर्शितम् । अथेदानीमाधिदैविकं पित्रादिभावं दर्शयति—

इस प्रकार यहाँतक आधिभौतिक पितादि दिखलाये गये । अब यहाँसे आधिदैविक पित्रादिभाव दिखलाते हैं—

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न चाप्यहम् ॥ २९ ॥

हे भारत ! मैं ही वृद्धपितामह, पिता और पुत्र भी हूँ । तुम सब मेरे ही स्वरूपमें स्थित हो तथा न तुम मेरेमें हो और न मैं तुममें हूँ ॥ २९ ॥

पितामहोऽस्मि स्थविरो वृद्धः, इन्द्रादेः पितामहोऽस्मि अनादिसिद्धः परमात्मा सोऽप्यहमेव । यः पिता इन्द्रादेर्हिरण्यगर्भः सोऽप्यहमेव । तथा ममैव यूयम् आत्मस्थाः । एवं यूयं सर्वे परमार्थतो न मे आत्मनि व्यवस्थिताः, न चाप्यहं

मैं स्थविर—वृद्ध पितामह हूँ अर्थात् इन्द्रादिका भी पितामह, जो अनादिसिद्ध परमात्मा है वह भी, मैं ही हूँ । तथा जो इन्द्रादिका पिता हिरण्यगर्भ है, वह भी मैं ही हूँ । तुम सब मेरे स्वरूपमें स्थित हो तथा तुम सब परमार्थतः मेरे स्वरूपमें स्थित हो भी नहीं, और न मैं

युष्मासु स्थितः । तथा चाह भगवान्—'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इति ॥ २९ ॥

ही तुमलोगोंमें स्थित हूँ । 'सब भूत मेरेमें ही स्थित हैं' इत्यादि वाक्यसे यही बात भगवान्‌ने भी कही है ॥२९॥

यद्यपि न ममात्मनि यूयं व्यवस्थिताः, न चाप्यहं युष्मासु स्थितः, तथापि—

यद्यपि मेरे आत्मामें तुम स्थित नहीं हो और न मैं ही तुम्हारेमें स्थित हूँ, तथापि—

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥

आत्मा ही मेरा आश्रय है और आत्मा ही मेरा जन्म है । मैं अजरप्रतिष्ठ ही सम्पूर्ण जगत्‌में ओतप्रोत हूँ । मैं अजन्मा हूँ तथा मैं ही अहर्निश सावधान रहकर क्रियाशील रहता हूँ । विद्वान् मुझे जानकर आनन्दित हो जाता है ॥ ३० ॥

आत्मैव स्थानम् आत्मैवाश्रयः, जन्म चात्मा अस्मादेवात्मनः सर्वमुत्पन्नम् । तथा च श्रुतिः—'आत्मन एवेदं सर्वम्' इति । ओतप्रोतोऽहमेव ओतप्रोतरूपेण व्यवस्थितो जगदात्मा युष्माकं जनयिता अजरप्रतिष्ठोऽजरे जरामरणवर्जिते स्वे महिम्नि तिष्ठामीत्यजरप्रतिष्ठः । तथा च श्रुतिः—'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इति ॥ ३० ॥

आत्मा ही मेरा स्थान—आश्रय है और आत्मा ही जन्म है; क्योंकि इस आत्मासे ही सबकी उत्पत्ति हुई है; जैसा कि 'आत्मासे ही यह सब हुआ है' यह श्रुति कहती है । मैं ही ओतप्रोत अर्थात् ओतप्रोतरूपसे स्थित जगदात्मा हूँ । तुम सबको उत्पन्न करनेवाला मैं अजर-प्रतिष्ठ—अजर यानी अपने जरामरणशून्य स्वरूपमें स्थित हूँ, इसलिये अजरप्रतिष्ठ हूँ । जैसी कि यह श्रुति भी है—'भगवन् ! वह किसमें स्थित है ?—अपनी महिमामें' ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

मैं ही अणुसे भी अणु हूँ, सुमना हूँ और समस्त भूतोंमें स्थित हूँ । समस्त भूतोंके पिता [इस आत्मतत्त्व] को विज्ञजन हृदयकमलमें निहित जानते हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अणोः सूक्ष्मादणीयान् सूक्ष्मतरः सुमनाः शोभनं रागद्वेषमदमात्सर्यशोकमोहादिधर्मवर्जितं केवलं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्माकारं मनो यस्य स सुमनाः सर्वभूतेषु सर्वेषु प्राणिषु हृदयकमलमध्ये अहमेवावस्थितः सर्वभूतात्मतया ।

अणु-सूक्ष्मसे भी अणीयान्—सूक्ष्मतर, सुमना—जिसका मन शोभन यानी राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, शोक और मोहादि धर्मोंसे रहित केवल सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे स्थित है, उसे सुमना कहते हैं तथा सर्वभूत—समस्त प्राणियोंके हृदयकमलमें मैं ही सर्वभूतान्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ ।

एवं तावत्स्वानुभवो दर्शितः, इदानीं न केवलमस्मदनुभव एवात्र प्रमाणम्, अन्येऽप्येवमेवावगच्छन्तीत्याह—पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुरिति । येऽन्ये सनकसनन्दनसनातनवामदेवादयो ब्रह्मविदस्तेऽपि पितरं सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां पिता जनयिता यः परमेश्वरस्तं पुष्करे हृत्पुण्डरीकमध्ये निहितं विदुः; परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्तीत्यर्थः ।

इस प्रकार अपना अनुभव तो दिखा दिया । अब 'पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुः' इस वाक्यसे यह बतलाते हैं कि इस विषयमें केवल मेरा अनुभव ही प्रमाण नहीं है, अपि तु दूसरे भी ऐसा ही अनुभव करते हैं अर्थात् सनक, सनन्दन, सनातन एवं वामदेव आदि जो दूसरे ब्रह्मवेत्ता हैं, वे भी जो समस्त प्राणियोंका पिता—उत्पत्तिकर्ता परमात्मा है, उसे पुष्कर यानी हृदयकमलके भीतर छिपा हुआ ही जानते हैं । अर्थात् वे परमात्माका आत्मभावसे ही साक्षात्कार करते हैं ।

तथा च श्रुतिस्तेषामनुभवं दर्शयति—'तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति बृहदारण्यके । 'एतत्साम गायन्नास्ते' इति तैत्तिरीयके सामगानेन स्वानुभवो दर्शितः, आत्मनः कृतार्थत्वद्योतनार्थम् । तथा छान्दोग्येऽपि—'तद्धास्य विजज्ञौ' इति । तलवकारे च 'अहमन्नम्' इत्यादिना विदुषः स्वानुभवो दर्शितः ।

इसी प्रकार श्रुति भी उनका अनुभव प्रदर्शित करती है । बृहदारण्यकमें कहा है—'उस इस आत्मतत्त्वका साक्षात्कारकर ऋषि वामदेवने कहा—'मैं मनु था और मैं ही सूर्य भी हूँ'' तथा तैत्तिरीयोपनिषद्में 'इस सामका गान करता रहता है' इस श्रुतिसे सामगानके द्वारा अपना कृतार्थत्व प्रदर्शित करनेके लिये अपना अनुभव दिखलाया है । तथा छान्दोग्यमें भी 'उसने इसे जान लिया' इस श्रुतिसे और तलवकार (केन) में 'मैं अन्न हूँ' इत्यादि श्रुतिसे भी विद्वान्‌का अनुभव दिखलाया गया है ।

तत्रैते श्लोका भवन्ति—

इस विषयमें ये श्लोक भी हैं—

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावमीशमात्मना ।

'नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ईश्वरका आत्मस्वरूपसे

भावयन् षडिन्द्रियाणि संनियम्य निश्चलः ॥
अस्ति वस्तु चिद्घनं जगत्प्रसूतिकारणम् ।
न नश्वरं तदुद्भवं जगत्तमोनुदं च यत् ॥
तत्पदैकवाचकं सदामृतं निरञ्जनम् ।
चित्तवृत्तिदृक् सुखं तदस्म्यहं तदस्म्यहम् ॥
इति ॥ ३१ ॥

चिन्तन करता हुआ, छहों इन्द्रियों (मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों) का निग्रह कर निश्चलभावसे [ऐसा चिन्तन करे—] 'जगत्की उत्पत्तिकी कारणभूत कोई चिद्घन वस्तु है। उससे उत्पन्न हुआ जो नाशवान् जगत् है, वह अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला नहीं है। जिसका एकमात्र 'तत्' पद ही वाचक है और जो सुख सत्स्वरूप, अमृत, निर्मल एवं चित्तवृत्तियोंका साक्षी है, वही मैं हूँ, वही मैं हूँ' इत्यादि ॥ ३१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ श्रीसनत्सुजातीयभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥
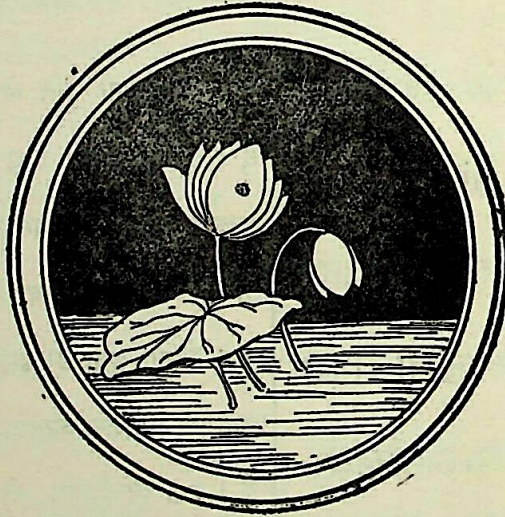
श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी—'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीताकी हिंदी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ४.००

श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिंदी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५२०, रंगीन चित्र ३, मूल्य २.७५

श्रीमद्भगवद्गीता-रामानुजभाष्य—[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ६०८, रंगीन चित्र ३, सजि०, मू० २.५०

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, मूल्य १.२५

श्रीमद्भगवद्गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सटीक, सचित्र, पृष्ठ ४२४, मूल्य .८७, सजिल्द १.२५

श्रीमद्भगवद्गीता—[मझली] प्रायः सभी विषय १.२५ वाली नं० ४ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य .७०, सजिल्द १.००

श्रीमद्भगवद्गीता—श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य .५०, सजिल्द .... .८७

श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य .३१, सजिल्द .... .५६

श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य .... .२५

श्रीमद्भगवद्गीता—पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, गुटका-साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य .... .२०

श्रीमद्भगवद्गीता—साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य .१६, सजि० .२८

श्रीमद्भगवद्गीता—विष्णुसहस्रनामसहित, छोटा टाइप, पृष्ठ-संख्या २७२, मूल्य .... .२०

श्रीमद्भगवद्गीता—[ताबीजी] मूल, पृष्ठ २९६, मूल्य .... .१२

श्रीमद्भगवद्गीता—विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य .१०, सजिल्द .... .१६

श्रीमद्भगवद्गीता—(अंग्रेजी-अनुवादसहित) पाकेट-साइज, सचित्र, पृष्ठ ४०४, मूल्य .२५, सजि० .३७

डाकखर्च अलग

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

अन्य पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके कुछ ग्रन्थ

ग्रन्थ	रु. न.पै.
विनय-पत्रिका—सरल हिंदी-टीकासहित, पृष्ठ-संख्या ४७२, सचित्र, मूल्य रु० १.००, सजिल्द	१.३७
गीतावली—हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४४४, सचित्र, मूल्य रु० १.००, सजिल्द	१.३७
कवितावली—हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ २२४, सचित्र, मूल्य	.५६
दोहावली—भाषानुवादसहित, सचित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य	.५०
रामाज्ञा-प्रश्न—सरल भावार्थसहित, पृष्ठ-संख्या १०४, मूल्य	.३७
श्रीकृष्ण-गीतावली—सरल भावार्थसहित, पृष्ठ-संख्या ८०, मूल्य	.३१
जानकी-मंगल—सरल भावार्थसहित, पृष्ठ-संख्या ५२, मूल्य	.२०
श्रीपार्वती-मंगल—पृष्ठ-संख्या ४०, मूल्य	.१२
वैराग्य-संदीपनी—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ २४, मूल्य	.१२
बरवै रामायण—सरल भावार्थसहित, पृष्ठ-संख्या २४, मूल्य	.१२
हनुमानबाहुक—सानुवाद, पृष्ठ ४०, मूल्य	.१०
हनुमानचालीसा—पृष्ठ ३२, मूल्य	.०६
विनय-पत्रिकाके बीस पद—सानुवाद, पृष्ठ २४, मूल्य	.०६
विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद—सानुवाद, पृष्ठ १६, मूल्य	.०३
श्रीरामचरितमानस—मोटा टाइप, बृहदाकार-भाषाटीकासहित, सचित्र पृष्ठ९८४, सजि०, मू०	१५.००
श्रीरामचरितमानस—मोटा टाइप, सानुवाद, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य	७.५०
श्रीरामचरितमानस—बड़े अक्षरोंमें, केवल मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, सजिल्द, मूल्य	४.००
श्रीरामचरितमानस—मूल, मोटा टाइप, पाठभेदसहित, सचित्र, पृष्ठ ८००, सजिल्द, मूल्य	३.००
श्रीरामचरितमानस—सटीक, मझला साइज, महीन टाइप, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजि०, मू०	३.००
श्रीरामचरितमानस—मूल, मझली साइज, पृष्ठ-संख्या ६०८, सचित्र, मूल्य	२.००
श्रीरामचरितमानस—मूल, गुटका, पृष्ठ-संख्या ६८८, सचित्र, सजिल्द, मूल्य	.७५
श्रीरामचरितमानस—बालकाण्ड—मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य	.६२
,, ,, —सटीक, पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य	१.१२
,, अयोध्याकाण्ड—मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मूल्य	.५०
,, ,, —सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य	.८१
,, अरण्यकाण्ड—मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य	.२०
,, ,, —सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य	.२५
,, किष्किन्धाकाण्ड—मूल, पृष्ठ २४, मूल्य	.१२
,, ,, —सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य	.१२
,, सुन्दरकाण्ड—सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य	.२५
,, लंकाकाण्ड—मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य	.२५
,, ,, —सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य	.५०
,, उत्तरकाण्ड—मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य	.२५
,, ,, —सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य	.५०

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

अन्य पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।